जिन्होंने साधु के कठोर व्रतो का पालन करते हुए भी लोक-सेवा के महान कार्य किये और धर्म के मूल तत्त्वो के द्वारा लोकतत्र के बुनियादी सिद्धान्तों को मानव-जीवन मे प्रतिष्ठित करने के लिए सतत प्रयास किया, उन

स्व० जैनाचार्य श्रीविजयवल्लभ सूरी

की

पावन स्मृति मे

प्रकाशकीय

संसार मे अनेक विचार-धाराए आज प्रचलित है। लोकतन्त्र, साम्यवाद, अधिनायकवाद आदि-आदि। इनमे से प्रत्येक का दावा है कि मानव-जाति का उद्धार उसीके द्वारा हो सकेगा, लेकिन दुर्भाग्य से अधिकाश विचार-धाराओ ने अपने चारो ओर सकुचित परिधिया खडी कर ली है और उनके द्वारा मानव-जाति का कोई हित नही हो रहा है।

भारत ने स्वतन्त्र होने के बाद अपने लिए लोकतन्त्र को अगीकार किया है। निस्सदेह वर्त्तमान सभी शासन-पद्धतियो मे लोकतन्त्र सर्व-श्रेष्ठ है, उसका आधार मानव है। वह एक ऐसी जीवन-दृष्टि है, जिसमे मनुष्य सर्वोपरि है। उसमें अतिम लक्ष्य मानव का विकास करना है।

इस पुस्तक मे इसी बात को विद्वान लेखक ने समझाते हुए बताया है कि लोकतन्त्र का लक्ष्य क्या है और किन साधनो से उसकी प्राप्ति हो सकती है।

पुस्तक ज्ञानवर्द्धक है और एक जीवन-दृष्टि प्रदान करती है।

इस माला की यह दूसरी पुस्तक है। पहली थी इन्ही लेखक की लिखी 'मानव और धर्म, जिसे सभी क्षेत्रो मे असामान्य लोकप्रियता मिली। आगे और भी कुछ पुस्तके इस माला मे निकलेगी।

हमें हर्ष है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ दिवगत जैनाचार्य श्रीविजयवल्लभ सूरी की स्मृति जुडी हुई है। आचार्यजी शुष्क क्रिया-काण्ड एव हृदय-हीन निवृत्ति के समर्थक नही थे और न ऐसी प्रवृत्ति के, जिसमे मानव की अन्तरात्मा लुप्त हो जाय। उनके जीवन मे दोनो का सुन्दर समन्वय था।

हमे विश्वास है कि इन सब पुस्तको का व्यापक प्रसार होगा।

—मंत्री

सूची

●

लोकतंत्र के मूल मंत्र

मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणइ ।

(आवश्यकसूत्र)

मेरी सब प्राणियो से मित्रता है, किसीसे वैर नही ।

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

(आचाराङ्ग १।१)

मानव ! तू ही तेरा मित्र है । बाहर किसे खोज रहा है ?

अभय मित्रादभयममित्राद् ।

हमें मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न हो ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत् ।

जो बातें हमे अच्छी नही लगती, उनका दूसरे के प्रति आचरण नही करना चाहिए ।

द्वितीयाद्वै भयम् ।

जबतक स्व और पर मे भेद है, भय बना रहेगा ।

लोकतंत्र का लक्ष्य

लोकतंत्र का लक्ष्य

: १ :

लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धान्त

मानव-चेतना स्वतत्र होकर जीना चाहती है और गुलामियो से मुक्त होने के लिए निरतर सघर्ष कर रही है। उसका यह सघर्ष ही मानव-जागृति का इतिहास है। मनुष्य मनुष्य का गुलाम रहा, प्रकृति का गुलाम रहा, देवताओ का गुलाम रहा, रीतिरिवाजो का गुलाम रहा, पूर्वग्रहो एव कुसस्कारो का गुलाम रहा, अन्धविश्वासो का गुलाम रहा, अज्ञान और मोह का गुलाम रहा। लोकतत्र उस व्यवस्था का नाम है जो मनुष्य को इन सव दासताओ से मुक्त करना चाहती है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि मानवता का इतिहास ही लोकतत्र का इतिहास है।

धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रो मे अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए मनुष्य ने विविध परपराओ को जन्म दिया, किन्तु वे ही उस पर हावी हो गई। व्यक्तित्व को दवाने लगी। विकास रुक गया। इस अनुचित दमन के विरुद्ध मानव ने जो सघर्ष किया, उसी के परिणाम-स्वरूप लोकतत्र का जन्म हुआ।

स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का मुख्य तत्त्व है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे यही जीवन का चरमलक्ष्य है। वहा एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता मे वाधा नही डालती, किन्तु भौतिक जीवन मे यह सम्भव नही है। वहा एक की स्वतन्त्रता प्राय दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करने लगती है। अत उसे मर्यादित करना आवश्यक हो जाता है। यह मर्यादा समता की है, अर्थात व्यक्ति जिस व्यवहार या मर्यादा की

दूसरे से आशा रखता है, स्वय भी उसका पालन करे। इसीका नाम सर्वमैत्री या 'स्व' और 'पर' मे समता है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी जब बाह्य मानव आन्तर मानव को दबाने लगता है तो दोनो मे सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। इसी का नाम धर्म या समता-योग है।

समता के दो रूप हैं—व्यवहार में समता और विचार में समता। व्यवहार मे समता का अर्थ है हम अपने लिए जिस व्यवहार की आशा रखते है वही व्यवहार दूसरे के साथ किया जाय। विचार मे समता का अर्थ है कि हम अपने विचारो को जितना महत्त्व देते है, उतना ही महत्त्व दूसरे के विचारो को भी दें। किन्तु यह सर्वत्र सम्भव नही है। जो स्वतन्त्रता सदाचारी को दी जा सकती है, वह अपराधी को नही दी जा सकती, दोनो के प्रति एक-सा व्यवहार नही किया जा सकता। इसी प्रकार विद्वान के विचारो का जो महत्त्व है, वह मूर्ख के विचारो का नही हो सकता। इस समस्या को सुलझाने के लिए समता के साथ न्याय का समावेश किया जाता है। अपराधी का व्यवहार दूसरे के प्रति समता-पूर्ण नही होता। अत वह अपने उस अधिकार को स्वय खो देता है। इसी प्रकार मूर्ख या अनपढ को वह अधिकार नही दिया जा सकता, जो विद्वान या विशेषज्ञ को प्राप्त है। न्याय की यही माग है कि किसी ऐसे तत्त्व के आधार पर भेद न किया जाय, जो मनुष्य के अपने हाथ की बात नही है। उदाहरण के रूप मे जाति, लिंग, वर्ण, क्षेत्र आदि के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति में भेद करना अन्याय है। जिस प्रकार समता स्वतन्त्रता का परिष्कार करती है, उसी प्रकार न्याय समता का परिष्कार करता है।

न्याय का परिष्कार मित्रता की भावना करती है। विचारपूर्वक देखा जाय तो राग-द्वेष आदि जिन वृत्तियो से प्रेरित होकर मनुष्य अपराध करता है, वे उसकी दुर्बलताए है। अज्ञान भी दुर्बलता है। दुर्बल व्यक्ति सहानुभूति का पात्र होता है, द्वेष का नही। अत न्याय मे भी सहानुभूति एव मित्रता की भावना का होना आवश्यक है। व्यक्ति विवशता या आवेश मे आकर गलती कर बैठता है। इसके लिए

यह उचित नही है कि वह सदा के लिए मानवोचित अधिकारो से वचित कर दिया जाय। यदि वह गलती स्वीकार करके अपना व्यवहार बदल देता है तो उसे दण्डित करना न्याय के स्थान पर अन्याय हो जाता है। स्वतन्त्रता, समता और न्याय तीनो मे मित्रता की भावना रहनी चाहिए।

मानव जबतक बौद्धिक दृष्टि से निर्बल रहा, अनेक वास्तविक एव कल्पित शक्तिया उसे दबाये रही। ज्योही सबल हुआ, उनके प्रभुत्व को समाप्त करता गया। धर्म के क्षेत्र मे वे शक्तिया ईश्वर, देवता, पुस्तक या क्रिया-काण्ड के रूप मे उपस्थित हुई। बौद्धिक विकास के साथ उसे एक ओर यह अनुभूति हुई कि मैं स्वय परमात्मा हू। दूसरी ओर यह अनुभव किया कि मुझे स्वतन्त्र होकर सोचने का अधिकार है।

सामाजिक क्षेत्र मे परम्पराओ और रूढियो ने चिरकाल तक दबाये रखा। किन्तु क्रान्तिकारी मानव उन्हे तोडकर आगे बढता चला गया। उसने यह अनुभव किया कि समाज का निर्माण मेरे लिए हुआ है। मै अपने हित के लिए समाज को बदल सकता हू। धर्म का मुख्य आक्रमण बुद्धि पर था। समाज ने हृदय पर आक्रमण किया। लोकनिन्दा और अपयश का भय दिखाकर ऐसी प्रथाए मानने के लिए विवश किया, जो उसकी समझ मे नही आ रही थी। किन्तु जैसे-जैसे हृदय की दुर्बलता दूर हुई, मानव उनके विरुद्ध क्रान्ति करता गया। सामाजिक परिवर्तनो का इतिहास इसी क्रान्ति का इतिहास है।

राजनैतिक क्षेत्र मे भी बाह्य वैभव और सामन्तवादी प्रदर्शन ने चिरकाल तक मनुष्य को दबाये रखा। वहा एक ओर चकाचौंध थी, दूसरी ओर दण्ड का भय। दोनो ने मिलकर मनुष्य को मनुष्य का गुलाम बना दिया। किन्तु प्रतिभाशाली मानव ने देखा कि नरपतियो के सिहासन केवल लकडी के टुकडे हैं। उसी की अज्ञानता एव दुर्बलता के कारण उन्हे दैवीरूप मिल गया है। कुल-परम्परा, सैनिक सगठन या राजकीय वैभव के आधार पर जो आतक फैलाया जा रहा है, वह तभी-तक है, जबतक वह उन के सामने नतमस्तक है। साहस बटोरते ही ऊचे प्रतीत होनेवाले शिखर भूमि पर आ गिरेगे।

अर्थोपार्जन का मुख्य आधार श्रम है। किन्तु उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व स्थापित करके पूजीपति ने श्रमिक को उस अधिकार से वचित कर दिया। धर्म और राज्यसस्था ने साथ दिया। धर्म ने भूखे पेट सोनेवाले मज़दूर से कहा—"यह तुम्हारे पूर्व जन्म मे किये हुए बुरे कर्मों का फल है। अब सन्तोष रखकर अच्छे कर्म करो, जिससे अगला जन्म सुधर जाय।" राज्यसस्था ने कहा—"जमीन पर जमीदार का अधिकार है और कारखाने पर उद्योगपति का। इनसे प्राप्त होनेवाला लाभ स्वामी को ही मिलेगा। तुम्हें इतना ही अधिकार है कि अपनी मजदूरी लेते रहो। अधिक आकाक्षा करना धर्म की दृष्टि से पाप है और राजनीति की दृष्टि से अपराध।" किन्तु श्रमजीवी ने देखा कि भूमि प्रकृति की देन है। जमीदार का उस पर अधिकार हिंसा या अन्याय है। भूमि से फल प्राप्त करने का उसी को अधिकार है, जो उस पर श्रम करता है, उसे उपजाऊ बनाता है। इसी प्रकार कारखाने से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति पर भी उसी का अधिकार है, जो परिश्रमपूर्वक उसे चलाता है।

धारणाए बदलती गई। देवताओ का गुलाम स्वय देवता बन गया। रूढि एव परम्पराओ का दास नई परम्पराए चलाने लगा। शासित, स्वय शासक बन गया। खेत जोतनेवाला भूमि का मालिक हो गया और मजदूर कारखाने का। इसी का नाम लोकतन्त्र का विकास है।

वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक इस जागरण के सकेत मिल रहे है। उपनिषदो ने 'आत्मान विद्धि' (अपने-आपको पहचान) कहकर बाह्य भेदो से ऊपर उठने का सन्देश दिया। महावीर और बुद्ध ने सत्य, अहिंसा आदि नैतिक स्तर पर समानता की प्राण-प्रतिष्ठा की। जैन धर्म ने यह भी कहा कि जीवात्मा ही बाह्य भेद समाप्त हो जाने पर परमात्मा बन जाता है। शैव, शाक्त, वैष्णव, अद्वैत, वेदान्त आदि परम्पराओ मे इसी का विभिन्न रूपो मे विकास हुआ। किसी ने भावात्मक एकता पर बल दिया, किसी ने बौद्धिक एकता पर। जहा-तक राजकीय व्यवस्था का प्रश्न है भारत मे लोकतन्त्र का प्रथम प्रयोग वैशाली गणतन्त्र के रूप मे हुआ। वैदिक साहित्य मे भी गणराज्यो का

उल्लेख मिलता है, किन्तु उसके पश्चात दो हज़ार वर्षों तक समस्त विश्व मे प्राय एकतन्त्रीय शासन व्यवस्था ही चलती रही। पिछले चार सौ वर्षों से पश्चिम लोकतन्त्र के प्रयोग कर रहा है और उसकी उपादेयता उत्तरोत्तर बढ रही है। जर्मनी, इटली, स्पेन आदि कुछ देशो ने सकट-कालीन स्थिति को सामने रखकर लोकतन्त्रीय पद्धति को अव्यावहारिक माना और अधिनायकवाद की स्थापना की। कुछ समय तक लाभप्रद जान पडने पर भी अन्त मे वह उस देश के लिए ही नही समस्त विश्व के लिए अमगल सिद्ध हुई। विभिन्न दृष्टियो से मनुष्य का क्या स्वरूप है और स्वाधीनता का क्या अर्थ है, इसकी चर्चा अगले पृष्ठो मे की जायेगी।

दो वृत्तियां

वैज्ञानिको ने स्वभाव की दृष्टि से प्राणियो का दो वर्गों मे विभाजन किया है —१ समाज-जीवी और २ व्यक्ति-जीवी। चीटिया, मधु-मक्खिया, भेड आदि समाज-जीवी प्राणी है। वे अकेले नही रह सकते। उनका सुख और दुख, सम्पत्ति और विपत्ति, पुरुपार्थ और फल, समस्याए और समाधान सब सामूहिक होते है। एक का सकट सबका सकट बन जाता है। ऐसे प्राणियो मे मुख्य भावना सुरक्षा की होती है। दूसरी ओर सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी व्यक्ति-जीवी हैं, वे प्राय अकेले रहते हे। यदि साथी होता है तो भी उसके साथ प्रेम या मित्रता का सम्बन्ध नही होता। उसका एकमात्र आधार विवशता होती है। सरकस वाले उन्हे विवश करके अपने अधीन कर लेते है और इच्छा-नुसार प्रदर्शन करते है। व्याघ्र या सिंह जब अपने परिवार के साथ रहता है, वहा भी उसका सम्बन्ध आतक-पूर्ण होता है। ऐसे प्राणियो मे मुख्य भावना प्रभुत्व की होती है। वे प्राय दूसरो का अधिकार छीनकर अपनी आकाक्षाए पूर्ण करना चाहते है।

मनुष्य मे दोनो वृत्तिया पाई जाती है। एक ओर वह सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसे दूसरो की सहायता पर निर्भर रहना पडता है। इसके लिए उसने प्रेम, दया, परोपकार आदि

आध्यात्मिक गुणो का विकास किया । दूसरी ओर वह स्वार्थी और अहकारी भी है । दूसरे का अधिकार छीनकर अपनी स्वार्थपूर्ति करने से उसे आनन्द आता है । दूसरे के स्वाभिमान को दबा कर अपने अहकार का पोषण करना चाहता है । जब विवशता का अनुभव करता है तो प्रथम वृत्ति बलवती हो जाती है और सफलता मिलने पर दूसरी। इन्ही दोनो के फलस्वरूप उसने धर्म, समाज, राज्य आदि सस्थाओ को जन्म दिया । प्रारम्भ मे उन्हे अपनी समस्याओ के समाधान के रूप मे अपनाया । किन्तु क्रमश उनके द्वारा अपने अहकार का पोषण करने लगा ।

प्रकृति तथा मानवान्तर के साथ सघर्ष करते समय जब पराजय हुई तो उसने धर्मसस्था को जन्म दिया । इसके दो रूप थे । एक ओर अतीन्द्रिय शक्तियो की कल्पना और उनसे सफलता प्रदान करने की प्रार्थना की गई । यह नही कहा जा सकता कि वह प्रार्थना सर्वथा निष्फल गई । विधिपूर्वक पूजा तथा प्रार्थना के पश्चात मानव यह अनुभव करने लगा कि वह शक्ति प्रसन्न हो गई है और उसका साथ देगी । उसने दूने उत्साह के साथ प्रयत्न प्रारम्भ किया और विजय प्राप्त कर ली । किन्तु उसका श्रेय अतीन्द्रिय शक्ति को दिया । जब ऐसा करने पर भी सफलता नही मिली तो निराशा ने उसे अन्तर्मुखी बना दिया और धर्म का दूसरा रूप सामने आया । मानव यह सोचने लगा कि मैं जिन वस्तुओ के लिए इतना सघर्ष कर रहा हू, क्या उनके बिना निर्वाह नही हो सकता ? दूसरी बात यह है कि प्राप्त कर लेने पर भी आवश्यक नही है कि वे टिकी रहेगी । उन्हे स्थायी बनाये रखना प्राप्त करने की अपेक्षा भी अधिक कठिन है । अन्त मे उसने यह अनुभव किया कि मेरा सघर्ष वास्तव मे देखा जाय तो उन वस्तुओ के लिए नही, किन्तु अपने अहकार और स्वार्थवृत्ति के पोषण के लिए है । परिणाम-स्वरूप उसने अहकार-वृत्ति का दमन प्रारम्भ किया । समस्त प्राणियो के साथ मित्रता की साधना शुरू की और 'स्व' एव 'पर' के भेद को मिटाने की ओर अग्रसर हुआ ।

जबतक शत्रु पर विजय की इच्छा थी तबतक अपने और पराये

की भावना बलवती थी। उस समय अतीन्द्रिय शक्ति के सामने गिड-गिडाने की आवश्यकता हुई। किन्तु ज्यो ही सब प्राणियो के साथ मित्रता का अभ्यास प्रारम्भ किया, वह अपने-आपको अनन्तशक्ति-सम्पन्न समझने लगा। साथ ही उसने यह भी अनुभव किया कि स्वार्थ-वृत्ति ने उस अपार शक्ति को कुण्ठित कर रखा है। इसीलिए वह दुर्बल बना हुआ है। इसी स्वार्थवृत्ति को अज्ञान, मोह, तृष्णा, क्लेश आदि शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है।

धर्म का प्रथम रूप विपमता-मूलक था और द्वितीय समता-मूलक। प्रथमरूप मे व्यक्ति पर-तन्त्र बन गया था। वह उन वृत्तियो के अधीन था, जिनका पोषण करने के लिए बाह्य प्रकृति पर नियन्त्रण एव अन्य व्यक्तियो का दमन आवश्यक था, जोकि उसके हाथ की बात नही थी। अत देवता के रूप मे अपने से भिन्न शक्ति का आश्रय लेना पडा। द्वितीय रूप मे वह स्वतन्त्र एव स्वाधीन हो गया। उसने यह अनुभव किया कि सुखी बनने के लिए अपनी ही दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार वह शत्रुता से मित्रता की ओर, घृणा से प्रेम की ओर, भय से अभय की ओर, मोह से वैराग्य की ओर, तृष्णा से सन्तोप की ओर और विपमता से समता की ओर अग्रसर हुआ। आधुनिक शब्दो मे इसी को परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर बढना कहा जायगा।

धर्म-सस्था का मुख्य बल हृदय-परिवर्तन है। उसका आधार विश्वास है। यह नही कहा जा सकता कि धर्म के नाम पर जितने विश्वास प्रचलित है, वे सब-के-सब तर्क सगत है। अनेक विश्वासो का आधार केवल श्रद्धा होती है। ऐसा भी हुआ कि किसी अन्धविश्वास को आधार बनाकर एक मानव दूसरे मानव पर हावी हो गया। धर्म ने पन्थ का रूप ले लिया और वह समता के स्थान पर विषमता का पोषण करने लगा। स्वतन्त्रता के स्थान पर बौद्धिक परतन्त्रता को प्रश्रय दिया जाने लगा। धर्म का नाम लेकर एक मानव दूसरे मानव पर हिंसक आक्रमण करने लगा। स्वतन्त्र मानव ने इसके विरुद्ध क्रान्ति की। सर्व-साधारण का ध्यान बाह्य आडम्बर से हटाकर वास्तविकता की ओर

आकृष्ट किया। सन्तो का जीवन इसी जागरण का इतिहास है। उन्होंने धर्म के उच्चतम रूप को पुन उपस्थित किया। फिर भी सर्वसाधारण मे धर्म का प्रभाव अज्ञात सुख और अज्ञात भय पर आधारित है।

दैनन्दिन व्यवहार के लिए मनुष्य ने समाज-सस्था को जन्म दिया। इसका भी मुख्य आधार मित्रता या परस्पर प्रेम है। किन्तु यहा इसका लक्ष्य परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक अभ्युदय है। जबकि धर्म का लक्ष्य अतीन्द्रिय शक्ति या मोक्ष रहा है।

मनुष्य को जीवन-रक्षा तथा विकास के लिए कुल, परिवार या जाति के रूप मे सामाजिक सरक्षण की आवश्यकता सदा रही है। प्राचीन समय मे जातीय सगठन अत्यन्त दृढ रहे है। अब भी अनेक ऐसी जातिया है जो चोरी, डकैती आदि अपराधो को अपना जाति-धर्म मानती है। उसके लिए राजदण्ड की परवाह नही करती। इतना ही नही साहसपूर्ण चोरी को प्रतिष्ठा का आधार माना जाता है। समाज-सगठन का विध्यात्मक आधार परस्पर सहयोग है और निषेधात्मक निन्दा या अपयश। औद्योगिक विकास और ग्रामो के स्थान पर नगरो की वृद्धि के साथ सामाजिक बन्धन टूट रहे है। गाव मे उत्पन्न व्यक्ति नगर मे आकर बस जाता है। कारखाने, दफ्तर या अन्य सस्था मे काम करने लगता है। पुराने समाज के साथ उसका सम्बन्ध प्राय टूट जाता है। उस पर उसका कोई नियन्त्रण नही रहता। नया नियन्त्रण मुख्यतया आर्थिक होता है। उसके लिए इतना ही अपेक्षित है कि वह अपने काम मे ढिलाई न करे। दैनिक कार्य के सात-आठ घटो को छोडकर उसके शेष जीवन पर समाज का कोई नियन्त्रण नही रहता। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि सामाजिक सगठन समाप्त हो गये।

जातीय आधार के शिथिल होने पर भी सगठन के नये-नये रूप सामने आ रहे है। इनका उद्देश्य कही विध्यात्मक अर्थात मिल-जुलकर सामूहिक उन्नति करना होता है और कही निषेधात्मक अर्थात दूसरे वर्ग या सगठन के साथ सघर्ष। एक ही व्यक्ति विभिन्न स्वार्थों की दृष्टि से अनेक सगठनो का सदस्य बन जाता है और उसका व्यक्तित्व अनेक निष्ठाओ मे बिखर जाता है। धार्मिक सगठन ईश्वर या विश्व-

बधुत्व की ओर आकृष्ट करता है और राजनैतिक सगठन राष्ट्रीयता की ओर। जातीय सगठन राष्ट्र के भी टुकडे कर डालता है। औद्योगिक सगठन अपने-अपने वर्ग के आर्थिक स्वार्थ को सर्वोपरि मानते है। वर्तमान मानव सबमे सम्मिलित होता है और परस्पर विरोधी सकेत पाकर किसी के प्रति निष्ठावान नही रहता। तात्कालिक स्वार्थ उसका मुख्य प्रेरक बन जाता है।

लोकतत्र का कथन है कि सगठन व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति सगठन के लिए नही है। जो सगठन व्यक्तित्व के विकास मे सहायक है वह उपादेय है और दूसरा हेय। किंतु यहा व्यक्तित्व सकुचित स्वार्थों एव परिधियो मे सीमित नही है।

बाह्य तथा आन्तरिक आतको से बचने के लिए राज्य-सस्था अस्तित्व मे आई। इसका सचालन शारीरिक दण्ड के आधार पर होता आया है। इस पर प्रश्न उठा कि दण्ड-प्रयोग का अधिकार किसके हाथ मे रहना चाहिए। इस विषय मे विचारको ने अनेक प्रकार की मान्यताए उपस्थित की हैं। मनु का कथन है कि दण्ड के सम्बन्ध मे नियमो का निर्माण त्यागी, ऋषियो या तत्त्व-चिन्तको के हाथ मे रहना चाहिए और प्रयोग क्षत्रियो के हाथ मे। यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उसने समाज को तीन भागो मे विभक्त किया है—(१) विचारक (२) सैनिक तथा (३) जनसाधारण। शासन का कार्य प्रथम दो वर्गों के हाथ मे रहना चाहिए। पहले वर्ग का कार्य है व्यवस्था सम्बन्धी नियमो और सिद्धान्तो का निर्माण और दूसरे का कार्य है उनका पालन कराना। शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार की व्यवस्थाए होने पर भी व्यावहारिक रूप मे राज्य का सचालन प्राय क्षत्रिय या, सैनिक वर्ग के हाथ मे ही रहा है। उसमे भी जो मुखिया होता था वह सभी प्रकार के अधिकार अपने हाथ मे कर लेता था। नियम बनाने तथा उनका पालन कराने की सर्वोच्च सत्ता उसी के पास रहती थी। वही सर्वोच्च विचारक होता था, वही न्यायाधीश और वही दण्डनायक।

जीवन मे ज्यो-ज्यो स्थिरता और सुरक्षा आती गई, दण्डशक्ति का

नेतृत्व घटता गया। उसका स्थान धर्म या ऐसे सगठन ने ले लिया, जो विश्वास या मानसिक चेतना पर आधारित था। प्रारम्भकाल मे मानव-जागरण का प्रतीक होने पर भी वही सिद्धान्त अहकार के साथ मिलकर मस्तिष्क का आवरण बन गया। जीवन मे उतारने के स्थान पर उसका नाम लेकर सैनिक सगठन होने लगे और युद्ध प्रारम्भ हो गये। जाति तथा क्षेत्रीय सीमा के आधार पर जो परिधिया खडी हुई थी, उनका प्रभाव घट गया और एक नई परिधि ने शक्तिशाली रूप ले लिया। ईसा की छठी शताब्दी मे इस्लाम के नाम पर अनेक जातियो का सगठन हुआ और दूसरो को मुसलमान बनाने के लिए तलवार से काम लिया जाने लगा। इसी आधार पर ईसाइयो और यहूदियो, हिन्दुओ और मुसलमानो के युद्ध सैकडो वर्षो तक चलते रहे और द्वेष की आग भभकती रही।

अनेक स्थानो पर ऐसा भी हुआ कि धर्माचार्य और शासको ने आपस मे समझौता कर लिया और वे सर्व-साधारण पर मनमानी करने लगे। अपनी उद्दाम लालसाए तृप्त करने के लिए अनेक प्रकार से शोषण करने लगे। इसकी प्रतिक्रिया हुई। जन-मानस मे उबाल आया और क्रान्तिया प्रारम्भ हुईं। अनेक स्थानो पर शासन-व्यवस्था को पलट दिया गया। सम्राट या सामन्तो के स्थान पर जनता ने उसे अपने हाथ मे ले लिया। सक्रमण-काल तथा उसके पश्चात अनेक प्रकार की शासन-पद्धतिया अस्तित्व मे आईं। साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, अधिनायकवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद आदि उसी सघर्ष एव परस्पर प्रतिक्रिया के परिणाम है।

लोकतंत्रीय जीवन-दृष्टि

दृष्टि का परिमार्जन किये बिना किसी प्रणाली को व्यवहार मे नहीं लाया जा सकता और यदि उसे बलपूर्वक लादा जायगा तो वह स्थायी नही रह सकती। साथ ही उसकी प्रतिक्रिया अत्यन्त भयकर होती है। अत लोकतन्त्रीय जीवन-प्रणाली के लिए तदनुरूप जीवन-दृष्टि का परिशोधन आवश्यक है। इसी प्रकार जबतक कोई जीवन-प्रणाली

स्वय व्यवहार मे नही उतरती, सर्वसाधारण मे उसका स्वागत नही होता, तबतक वह राजकीय या अन्य किसी व्यवस्था के रूप मे सफल नही हो सकती। ऐसी स्थिति मे राजकीय अनुशासन एक प्रकार का अत्याचार बन जाता है। प्रणाली विशेप के अपने-आप जीवन मे उतरने पर राजकीय सगठन का इतना ही कार्य रह जाता है कि उस प्रणाली को व्यवस्थित करे और सर्वसाधारण के कल्याण को लक्ष्य मे रखकर समय-समय पर परिवर्तन करता रहे। ऐसी राज्य-सस्था सर्व-साधारण द्वारा चुने गये प्रतिनिधियो का सगठन होती है और जनता के सुख-दुख का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। वहा शासक और शासित, राजा और प्रजा का सबन्ध नही होता, किन्तु परिवार और उसके मुखिया का होता है। जहा दोनो पर एक-दूसरे का उत्तरदायित्व है। दोनो परस्पर सहायक है। एक के सुख-दुख, उन्नति-अवनति, उत्थान और पतन के साथ दूसरे के सुख-दुख, उन्नति-अवनति तथा उत्थान और पतन जुडे हुए हैं।

मनुष्य ने अपने दीर्घकालीन जीवन-सघर्ष से अनेक बाते सीखी। पुरानी धारणाए छोडी और नई धारणाओ को अपनाया। इसी सघर्प मे उसने जीवन के प्रति अनेक दृष्टिया बनाई, जिनपर तत्कालीन परिस्थिति, बौद्धिक स्तर तथा अन्य तत्त्वो की स्पष्ट छाप है। उनको मुख्यतया दो भागो मे बाटा जा सकता है —

(१) समता-मूलक दृष्टिया और (२) विपमता-मूलक दृष्टिया।

समता-मूलक दृष्टि का अर्थ है मानव और मानव को परस्पर समान समझना अर्थात उनमे किसी ऐसे आधार पर भेद न मानना, जिसके लिए व्यक्ति स्वय उत्तरदायी नही है। इसके विपरीत विपमता-मूलक दृष्टि मे धर्म, जाति, राष्ट्र आदि ऐसे आधारो पर भेद माना गया है, जिन्हे व्यक्ति ने स्वय उत्पन्न नही किया। लोकतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए समता-मूलक जीवन दृष्टि का होना अनिवार्य है। इस दृष्टि को हम दो क्षेत्रो मे बाट सकते है। १ व्यवहार और २ विचार।

व्यवहार मे समता का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के सुख-दुख, आवश्यकता एव अनुभूतियो को उतना ही महत्व दे, जितना अपने-आप

को देता है। इसी का दूसरा नाम अहिंसा है।

विचारो मे समता का अर्थ है दूसरे के विचार को भी उतना ही महत्व देना, जितना अपने विचार को दिया जाता है। इसका यह आशय नही है कि किसी के विचार को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया जाय। इसका इतना ही अर्थ है कि किसी विचार को स्वीकार करने या त्यागने का आधार 'स्व' अथवा 'पर' नही होना चाहिए। तर्क-सगत होने पर प्रत्येक विचार का स्वागत करना चाहिए, वह 'स्व' या 'पर' चाहे किसी क्षेत्र से आया हो। दूसरी ओर तर्क-विरुद्ध सिद्ध होने पर अपने विचार को भी छोडने मे सकोच नही होना चाहिए।

धर्म, समाज, राजनीति आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे दोनो प्रकार की दृष्टिया मिलती है।

धार्मिक दृष्टियां

समता मूलक—धार्मिक परम्पराओ ने समता-मूलक दृष्टि को विविध रूपो मे उपस्थित किया है—

१. वेदान्त दृष्टि . सर्वप्रथम हमारे सामने उपनिषदो की एकता-दृष्टि आती है। उन्होने प्रतिपादन किया है कि विश्व के मूल मे एक तत्त्व है और वही सत्य है। बाहर दिखाई देनेवाला भेद केवल कल्पना है। विकास का अर्थ है प्रतीत होनेवाले बाह्य भेद से आन्तरिक अभेद की ओर बढना। उन्होने यह भी बताया कि जबतक अपने और पराये का भेद प्रतीत होता है, तबतक भय बना रहेगा। दूसरी ओर जो व्यक्ति मौलिक एकता को प्राप्त कर लेता है और समस्त विश्व को अपना ही स्वरूप मानने लगता है, उसमे भय नही रहता। जब सब एक हो गये तो कौन किससे डरेगा? उन्होने इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक व्यक्ति मे सर्वशक्तिमान परमात्मा छिपा हुआ है। इतना ही नही, परमात्मा से भिन्न कोई सत्ता ही नही है। व्यक्ति को चाहिए कि अपने उस परमात्म-स्वरूप का दर्शन करे। उसका साक्षात्कार होते ही हृदय की गाठ खुल जायगी और सारी समस्याए सुलझ जायगी।

२. बौद्ध दृष्टि . बुद्ध की दृष्टि निषेधात्मक रही है। उनका कथन

है कि जबतक जीवन है, दुख और विषमताए बनी रहेगी, जबतक अस्तित्व है कष्टो से छुटकारा नही मिल सकता। जीवन या अस्तित्व की तृष्णा ही सबसे बडा बन्धन है। इससे छुटकारा पाने के लिए बाह्य वस्तुओ से विरक्ति तो होनी ही चाहिए, साथ ही 'स्व' के प्रति अनुराग भी समाप्त होना चाहिए। उन्होने भी विकास का अर्थ समता या वैषम्य निवृत्ति किया। किन्तु साथ ही कहा कि उसका लक्ष्य कोई विध्यात्मक तत्त्व नही है।

हीनयान मे बौद्ध धर्म का यही रूप मिलता है। महायान मे भी उसने पारमिताओ के रूप मे समस्त प्राणियो के साथ मित्रता, सहानुभूति, करुणा आदि पर बल दिया। उपरोक्त दोनो दृष्टियो मे व्यावहारिक जगत मिथ्या, नश्वर या हेय है। उनके द्वारा प्रतिपादित एकता व्यावहारिक जीवन मे प्राप्त होनी कठिन है।

३ जैन दृष्टि जैन धर्म का कथन है कि विश्व मे जो भेद प्रतीत हो रहा है, वह मिथ्या नही है, वह व्यक्ति की अपनी सृष्टि है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख, दु ख एव भाग्य का सर्वथा स्वय निर्माण करता है। प्रतीयमान वैषम्य प्राणियो के अपने-अपने कर्म का फल है।

किन्तु बाह्य वैषम्य होने पर भी सब प्राणियो मे मौलिक समानता है, अर्थात प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ के द्वारा उच्चतम सुख प्राप्त कर सकता है, जहा सब समान है। व्यक्ति स्वय अपना उद्धारक है और स्वय ही पातक।

इस मौलिक समता को जीवन मे उतारना ही जैन-साधना का लक्ष्य है। इसके लिए जैनधर्म ने विश्व-मैत्री पर बल दिया और बताया कि जब तुम किसी को मारने, कष्ट देने या दुखी करने के लिए प्रवृत्त होते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर देखो। प्रत्येक जीव तुम्हारे ही समान सुख चाहता है और दुख से दूर भागता है। अपने ही समान प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावो का आदर करो, अपने लिए जिस व्यवहार की आशा रखते हो वही दूसरे के साथ करो। जो बात अपने लिए बुरी लगती है उसका आचरण दूसरे के प्रति मत करो।

जैन-दर्शन व्यावहारिक जगत का अपलाप नही करता। किन्तु वह

ऐसी दृष्टि उपस्थित करता है, जहा व्यावहारिक जीवन मे भी समता लाई जा सके। उसका कथन है कि बाह्य भेद एव वैषम्य को नही मिटाया जा सकता, फिर भी दृष्टि तथा व्यवहार मे समता को लाया जा सकता है। वेदान्त ने विध्यात्मक एकता को उपस्थित किया और बौद्ध-दर्शन ने निषेधात्मक एकता को। जैन-दर्शन एकता के स्थान पर समता को प्रस्तुत करता है, जिसका अर्थ है वैयक्तिक भेद होने पर भी दृष्टि एव आचरण मे अभेद।

४ ईसाई दृष्टि ईसाई धर्म भी व्यवहार-शुद्धि पर बल देता है। गिरि-प्रवचन (Sermons on the Mount) के रूप मे जो उपदेश मिलते है, वे प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करने और शत्रु को भी गले लगाने पर बल देते है। वहा बताया गया है कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा लगाता है तो दूसरा भी उसके सामने कर दो, यदि कोई तुमसे कोट मागता है तो कमीज भी दे दो।

५ इस्लाम दृष्टि इस्लाम ने भी मानव-मात्र की समानता पर जोर दिया है। उसकी मान्यता है कि परमात्मा के दरबार मे सभी एक समान है। जो व्यक्ति दूसरे को सताता है, वह परमात्मा से शत्रुता करता है।

विषमता मूलक—अनेक धर्म प्रारम्भ से ही विषमता के सिद्धान्त को लेकर खडे हुए और उन्होने आगे चलकर जाति का रूप ले लिया। कुछ धर्म अपने जन्मकाल मे समतावादी रहे, किन्तु भौतिक स्वार्थों के प्रभाव मे आकर विषमतावादी बन गये। कुछ धर्म ऐसे भी है, जो प्रारम्भ मे विषमता के पोषक रहे, किन्तु धीरे-धीरे उदार होते गये। उनमे दोनो दृष्टिया मिलती है। वे सिद्धान्त की दृष्टि से समतावादी है और व्यवहार की दृष्टि से विषमतावादी।

प्रथम कोटि मे यहूदी, पारसी आदि ऐसे धर्म आते है, जो प्रारम्भ से लेकर अबतक विषमता के समर्थक है। वे अपने धर्म के अनुयायी को दूसरो की तुलना मे उत्कृष्ट तो मानते ही है, साथ ही यह भी कहते है कि दूसरा कोई व्यक्ति उनके धार्मिक सगठन मे सम्मिलित नही हो सकता। जहातक सगठन की आन्तरिक व्यवस्था का प्रश्न है, वे भी समतावादी है। किन्तु इतर जगत के प्रति उनकी दृष्टि विषमतामूलक है।

दूसरी श्रेणी मे ईसाई, इस्लाम आदि धर्म आते है। वे सैद्धान्तिक दृष्टि से समतावादी है, किन्तु व्यवहार में विषमतावादी बन गये। दोनो धर्म इतर जातिवालो को अपनाने के लिए तैयार है। किन्तु उसके सगठन की शरण मे आये बिना किसी को समान अधिकार देने के लिए तैयार नही है।

तीसरा उदाहरण वैदिक परम्परा का है। इसका प्रारम्भ विषमता के आधार पर हुआ। वैदिक-आर्य देवताओ से शत्रु के नाश और अपनी उन्नति की प्रार्थना करता है। यजुर्वेद की सामाजिक व्यवस्था मे कोई भी आर्येतर वैदिक धर्म का अनुयायी नही बन सकता। किन्तु उपनिषदो मे जाकर वैदिक-परम्परा समता का समर्थन करने लगी। क्रमश, उसमे अनेक दृष्टिया मिलती गई। उनका वर्तमान रूप हिन्दू धर्म है। यह सिद्धान्त की दृष्टि से उदार है और व्यवहार की दृष्टि से सकुचित। हरिजन तथा स्त्रियो के प्रति घृणा इसमे वैदिककाल से चली आ रही है। जैन तथा भारत की अन्य परम्पराओ पर भी इसका न्यूनाधिक प्रभाव दिखाई देता है।

सामाजिक दृष्टियां

सामाजिक सबधो को सक्षेप मे तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—प्रेममूलक, विनिमयमूलक और अत्याचारमूलक।

प्रेममूलक सबधो का उदाहरण परिवार है। वहा प्रत्येक सदस्य की भावना कर्तव्य की रहती है, अधिकार की नही। परिवार मे एक सदस्य अर्थ उपार्जन करता है, दूसरा अशक्त या रुग्ण होने के कारण खाली बैठा रहता है। इतना ही नही, परिवार पर उसकी चिकित्सा का बोझ बढता चला जाता है, फिर भी दोनो के अधिकार समान रहते है। उपार्जन करनेवाले को अधिक सुविधाए प्राप्त करने का अधिकार नही होता। परिवार का आदर्श होता है, सभी अपनी-अपनी योग्यता एव सामर्थ्य के अनुसार परिवार के सुख की वृद्धि मे योग दें। दूसरी ओर पारिवारिक स्थिति को लक्ष्य मे रखते हुये सभी समान सुविधाए प्राप्त करे। वहा श्रम और सुविधा मे विनिमय या लेनदेन की भावना नही

होती ।

विनिमय मूलक दृष्टि का उदाहरण आर्थिक तथा राजनैतिक सगठन है, जहा दो वर्ग या व्यक्ति स्वार्थ पूर्ति के लिए समझौता करते है । ये सवध प्रारभ मे समतामूलक होते हैं । किन्तु एक की शक्ति और दूसरे की विवशता बढ जाने पर विषमतापूर्ण बनते चले जाते हैं और अत्याचार का रूप धारण कर लेते है । श्रमिक और उद्योगपति, कृषक और जमीदार, विक्रेता और उपभोक्ता आदि के सवध इसी प्रकार के है ।

अत्याचारमूलक सवध प्रारभ से ही विषमतापूर्ण होते हैं । हिंसा तथा उत्पीडन लिये रहते हैं । प्रजा और क्रूर शासक, गुलाम और मालिक आदि के सवध इस कोटि मे आते हैं । इनमे एक पक्ष भोक्ता होता है और दूसरा भोग्य । एक की इच्छा एव उद्दाम वासना-पूर्ति के सामने दूसरे की इच्छा या जीवन का कोई मूल्य नही होता । पहले बताया जा चुका है कि अनेक धर्मों ने भी विषमता का पोषण किया और वे जाति के रूप मे परिणत हो गये । उन्होने भी सामाजिक विषमता को जन्म दिया । भारत मे वर्ण-वैषम्य तथा लिंग-वैषम्य वैदिक-परम्परा की देन है । इसी प्रकार यहूदियो और ईसाइयो, हिन्दुओ और मुसलमानो मे परस्पर जो विद्वेष चल रहा है, वह धर्म-सस्था का अभिशाप है । अमरीका तथा अफ्रीका मे काली और गोरी जातियो का परस्पर जो वैमनस्य चल रहा है वह भी सामाजिक विषमता का परिणाम है ।

राजनैतिक दृष्टियां

राजनीति का अर्थ है, शासक और शासित का परस्पर सम्बन्ध । दोनो मे जितनी दूरी होती है उतनी ही अधिक विषमता रहती है । प्राचीन समय मे शासक अपने को ईश्वर मानता रहा और शासित मनुष्य से भी नीचे गिर कर पशु के स्तर पर पहुच गया । वहा शासित के सुख-दुख या जीवन का कोई मूल्य नही था । धीरे-धीरे सोई हुई मानवता जगी । ईश्वर के आसन पर बैठा हुआ शासक नीचे आने लगा और पशु की भूमिका पर पहुचा हुआ शासित ऊपर उठने लगा । दोनो का भेद घटता चला गया । यही से लोकतन्त्र का प्रारम्भ हुआ ।

प्राचीन समय मे सेना, प्रशासन और न्याय तीनो एक व्यक्ति के हाथ मे होते थे। युद्धकाल का नेता सैनिक वल के आधार पर सर्वोच्च विधायक और न्यायाधीश भी वन जाता था। इतना ही नही, वह यह भी मानने लगता था कि पूजा का अस्तित्व उसके सुख एव भोग-विलास की वृद्धि के लिए है। बुद्धि-जीवी वर्ग उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए उसे दैवी रूप दे देता था और वह ईश्वर का अवतार मान लिया जाता था।

अब वे धारणाए समाप्त हो चुकी है। वर्तमान मानव दूसरे मानव का सुख-साधन बनने के लिए तैयार नही है। वे दिन भी समाप्त हो चुके है, जब ईश्वरीय सत्ता को किसी व्यक्ति मे सीमित मान लिया जाता था और दूसरो से कहा जाता था कि वे उसके लिए जिये और उसके लिए मरे।

वर्तमान युग मे एकतन्त्रवाद का नया रूप सामने आया है और वह है अधिनायकवाद। जर्मनी, इटली, रूस आदि देशो मे इसके विविध रूप दृष्टिगोचर हुए। वहा राष्ट्र या समाज को ईश्वरीय रूप दे दिया गया और प्रत्येक व्यक्ति से आशा की गई कि वह उसके लिए वैयक्तिक स्वार्थों का बलिदान कर दे। साथ ही किसी वास्तविक या कल्पित सकट का वातावरण फैलाकर, सर्वसाधारण से कहा गया कि वे किसी एक व्यक्ति को राष्ट्र का प्रतिनिधि या प्रतीक मानकर अपने सारे अधिकार उसे सौप दें। परिणाम स्वरूप शासन एक व्यक्ति के हाथ मे आ गया और वह राष्ट्र-विकास की नई-नई आकर्षक योजनाए उपस्थित करके अपनी शक्ति को बढाता गया, प्रजा की स्वतन्त्र चेतना कुण्ठित हो गई और प्रतिभा दबने लगी।

यहा एक प्रश्न उत्पन्न होता है। यदि अधिनायक अत्याचारी नही है और वास्तव मे राष्ट्र-हित के लिए प्रयत्नशील है तो उसे सत्ता सौपने मे क्या हानि है ? अत्याचार का क्या अर्थ है ? हम एक मनुष्य को खाने-पीने के लिए पूरा देते है। साथ ही उस पर यह प्रतिबन्ध लगा देते हैं कि उसे अपनी इच्छा से कोई कार्य करने का अधिकार नही है, तो क्या इसे अन्याय कहा जायगा ? इसके उत्तर मे यह समझने की आवश्यकता है कि मनुष्य क्या है ? केवल शरीर नही है। उसे जिस प्रकार भोजन और

सास लेने की आवश्यकता है, उसी प्रकार अन्य इच्छाए पूर्ण करने, विचार करने और स्वतन्त्र होकर उसे प्रकट करने की भी आवश्यकता है। इसके बिना मानव अधूरा रह जाता है।

अधिनायकवाद मानव के केवल भौतिक रूप को स्वीकार करता है, आन्तरिक रूप को नही। आन्तर-चेतना का विकास वही हो सकता है, जहा राष्ट्र या अन्य किसी तत्त्व के लिए मानव का बलिदान नही किया जाता। यह तभी सम्भव है जब शासक और शासित का भेद मिट जाय, और शासित ही परस्पर मिलकर अपने ऊपर शासन करें। इसका अर्थ है प्रत्येक शासित-राज्य से जो सुविधाए प्राप्त करना चाहता है या प्राप्त करता है उनके बदले में अपने उत्तरदायित्व को समझे और राजकीय अनुशासन को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करे।

लोकतन्त्र का आधुनिक विकास शासन-प्रणाली के रूप मे हुआ है। स्वेच्छाचारी शासको के अत्याचार से पीडित जनता ने क्रान्ति की और शासन को अपने हाथ मे ले लिया। कही पर कुलक्रमागत शासक को सर्वथा समाप्त कर दिया गया और कही उसके अधिकार छीन लिये। इस प्रकार शासक को अधिकारच्युत कर देने पर जननायको के सामने यह प्रश्न आया कि राज्य का सचालन कैसे किया जाय। प्रजाजनो की सख्या तथा क्षेत्र सीमित होने पर वे सब मिलकर शासन मे प्रत्यक्ष भाग लेने लगे। प्रत्येक प्रश्न का निर्णय मिलकर करने लगे। इसे प्रत्यक्ष लोक तन्त्र (Direct Democracy) कहा जाता है। किन्तु बडे राज्यो मे यह सभव नही था। अत वहा प्रतिनिधि चुनने की प्रणाली को अपनाया गया, इसे प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र (Representative Democracy) कहा जाता है।

विभिन्न क्षेत्रो तथा परिस्थितियो मे लोकतत्र के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं। किसी ने इसे राजनैतिक प्रश्न माना, किसी ने आर्थिक और किसी ने सामाजिक। तदनुसार इसकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न रूप से की गई।

वर्तमान विचारक लोकतत्र की परिभाषा करते समय विभिन्न दृष्टियो को सामने रखते है। कोई इसे सामाजिक प्रश्न मानता है और

कोई राजनैतिक। कोई इसे एक प्रकार की जीवन-पद्धति मानते हैं। सभी उसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से करते है। सामाजिक प्रश्न माननेवालो का कथन है कि लोकतत्र मे जन्मकृत कोई विषमता नही रहनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को विकास का समान अवसर मिलना चाहिए। उनकी स्वतत्र प्रतिभा और पुरुषार्थ को विकास का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। वैयक्तिक जीवन पर नियन्त्रण वही होना चाहिए, जहा एक का जीवन दूसरे के जीवन मे बाधक हो। साम्य-वादियो की धारणा है कि बुराइयो की जड आर्थिक विषमता है। अत इस क्षेत्र मे भी नियन्त्रण आवश्यक है। इसके लिए प्रतिभा एव नियत्रण बुरा नही है।

मानवतावादी इसकी परिभाषा परस्पर प्रेम और सच्चरित्रता आदि आध्यात्मिक गुणो के आधार पर करते है। इनका कथन है कि राष्ट्र, जाति या धर्म के नाम पर खडी की गई समस्त परिधियो को समाप्त कर देना चाहिए। मानव और जीवन मे किसी प्रकार का भेद नही होना चाहिए।

लोकतन्त्र और परिवर्तन

वास्तव मे देखा जाय तो लोकतन्त्र एक जीवन-दृष्टि है। उसे लक्ष्य मे रखकर बाह्य रूप बदलते रहते है। लोक-प्रिय शासन को सास्कृतिक गतिविधि, राजनैतिक तनाव, आर्थिक स्तर तथा अन्य परिस्थितियो के अनुसार अपना ढाचा बदलते रहना चाहिए। कृषिप्रधान क्षेत्र मे इसका जो रूप होगा वह औद्योगिक क्षेत्र मे नही हो सकता। इसी प्रकार युद्ध, महामारी, गृह-कलह अथवा अन्य प्रकार के सकटकाल मे जिस रूप की आवश्यकता है, शान्तिकाल मे वह उपयोगी नही है। लोकतन्त्र के ढाचे, नीति और कार्यक्रम सभी पर यह बात लागू है। अधिकारियो की नियुक्ति, प्रतिनिधियो का चुनाव, प्रशासन का वर्गीकरण आदि सभी बातो मे सामाजिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करते रहने की आवश्यकता है। लोकतन्त्र मे सत्ता किसी एक दल के पास नही रहती और सत्तारूढ दल के परिवर्तन के साथ नीति मे भी परिवर्तन हो

जाता है।

इन सब बातो पर विचार करने मे ज्ञात होता है कि लोकतन्त्र एक परिवर्तनशील यन्त्र है, जो परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। यही इसकी विशेषता है। अन्य प्रणालिया परिस्थिति-विशेष मे पनपती हैं और उसके बदल जाने पर समाप्त हो जाती है, किन्तु लोकतन्त्र को यह भय नही हैं। वह शाश्वत है। जिस प्रकार जीवात्मा जिस शरीर मे घुसता है, उसीका रूप ले लेता है और उसे गुण एव शक्ति प्रदान करने लगता है, उसी प्रकार लोकतन्त्र प्रत्येक सगठन तथा परिस्थिति के अनुकुल बनकर उसे अनुप्राणित करता रहता है।

लोकतन्त्र एक सगठन है। सगठन अपने-आप मे लक्ष्य नही होता। उसका उपयोग नही होता। उसका उपयोग वहीतक है, जहातक वह लक्ष्य की पूर्ति करता है। लक्ष्य और सगठन के स्वरूप के विषय मे मतभेद और विवाद चलते रहते है, किन्तु जो सगठन लक्ष्य के विरोध मे जाता है या उसे पूरा नही करता, उसका कोई समर्थन नही कर सकता। सगठन के समर्थन का आधार लक्ष्यपूर्ति होता है। जब लोकतन्त्र अपने उद्देश्य को पूरा नही करता और यह स्थिति लम्बे समय तक चलती रहती है तो उसके ढाचे का पुन. परीक्षण, परिष्कार एव परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सस्था या सगठन की अन्तरात्मा का जो महत्त्व है, वह बाह्य रूप का नही है। अन्तरात्मा वास्तविक जीवन है और बाह्य रूप उसका आवरण। आवरण अन्तरात्मा की रक्षा के लिए होता है। वह अपने-आप मे लक्ष्य नही होता। यदि कानून स्वतन्त्रता की जो परिभाषा करता है और जिस रूप मे उसे प्रदान करता है, वह वास्तविक स्वतन्त्रता मे बाधक है, यदि कागजी न्याय वास्तव मे अन्याय है, यदि अधिकार का नाम लेकर अत्याचार को प्रश्रय दिया जा रहा है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उस प्रणाली पर पुन: विचार किया जाय। यदि परीक्षा करने पर जान पडे कि उपरोक्त दोष प्रचलित प्रणाली का आवश्यक भावी परिणाम है तो उस प्रणाली को बदलना आवश्यक हो जाता है।

लोकतन्त्र और मानव-स्वभाव

लोकतन्त्र के विरुद्ध यह प्रश्न उठाया जाता है कि मानव स्वभावत स्वार्थी है। वह अपने सुख एव भोगविलास की चिन्ता रखता है और इसके लिए दूसरे के न्यायपूर्ण अधिकार को छीनने मे सकोच नही करता। एक प्राण दूसरे प्राण का भोजन है। ऐसी स्थिति मे क्या मनुष्य से यह आशा की जा सकती है कि वह दूसरे मनुष्य के साथ सहयोग करता रहेगा और अन्याय एव अत्याचार नही करेगा? क्या दण्ड-भय के बिना मनुष्य को नियन्त्रण मे रखा जा सकता है? यदि ऐसा नही है तो लोकतन्त्र स्वप्न-मात्र है। इसके उत्तर मे लोकतन्त्र के समर्थको का कथन है कि मानव धीरे-धीरे विकास कर रहा है। उसकी आन्तर चेतना उत्तरोतर अभिव्यक्त हो रही है। वह अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करने लगा है। यह अनुभूति ज्यो-ज्यो बढ रही है, वह लोकतन्त्र के उपयुक्त बनता जा रहा है। जब मानव ने आध्यात्मिक चेतना प्राप्त की तो बाह्य विषमता दूर न होने पर भी आन्तरिक समता का अनुभव किया। इसके लिए बाह्य जगत से सम्बन्ध तोडकर आन्तरिक जगत से सम्बन्ध जोडा, अपने दार्शनिक चिन्तन मे उसने सर्वत्र समता का दर्शन किया। सेमेटिक धर्मों मे बताया गया है कि मनुष्य अपने-आप मे शैतान है। वह स्वभावत विषमता का समर्थक है, किन्तु दण्ड के भय से समता की ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत भारतीय धर्मों ने मानव और मानव ही नही, मानव और ईश्वर मे भी मौलिक एकता या समता का प्रतिपादन किया। उनकी दृष्टि मे मानव अपने-आप मे बुरा नही है, वह बुराई की ओर बाह्य प्रभाव के कारण झुकता है।

रूसो के समय पश्चिम मे भी यह मान लिया गया कि विषमता का कारण बाह्य वातावरण है। अपने-आप मे मनुष्य बुरा नही है और प्रत्येक के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। उस समय वहा कम-से-कम सिद्धान्त के रूप मे समता को स्वीकार कर लिया गया, चाहे वह व्यवहार मे न उतरी हो। सदियो तक यह सिद्धान्त एक स्वप्न प्रतीत होता रहा और यह माना जाता रहा कि वह व्यवहार मे नही उतर सकता।

वर्तमान समय मे एक नई आशा और नये विश्वास का प्रादुर्भाव हुआ है। मानवता यह मानने लगी है कि सुदूर प्रतीत होनेवाला लक्ष्य समीप आगया है और वह असम्भव कल्पना नही है। इस आशावाद के मुख्य तीन कारण है —

१ विज्ञान का विकास और उसके आविष्कारो का मानवीय व्यवहारो पर प्रत्यक्ष प्रभाव।

२ बालक तथा युवक सभी के लिए शिक्षा एव मार्ग-दर्शन की पर्याप्त सुविधाए।

३ तीव्र यातायात तथा प्रचार साधनो के कारण भौगोलिक दूरी और आवरणो का समाप्त होना तथा परस्पर सम्पर्क की वृद्धि।

लोकतन्त्र की मूल भावनाएं

अब हमे यह विचार करना है कि वे तत्त्व कौन से है, जिनके आधार पर लोकतन्त्र की सफलता या असफलता का निर्णय किया जा सकता है। वे ही लोकतन्त्र की मूल भावनाए है। हम उन्हे नीचे लिखे पाच तत्त्वो मे प्रकट कर सकते है —

१ मानव की सर्वोत्कृष्टता · इसका अर्थ है धर्म, ईश्वर, समाज, राज्य, कला-कौशल, विज्ञान तथा अन्य समस्त विद्याए मानव के लिए हैं, मानव उनके लिए नही है। उनके लिए मानव का दमन लोकतन्त्र के प्रतिकूल है।

२ स्वतन्त्रता . प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमे स्वतन्त्र है। अनुशासन या नियन्त्रण की वही आवश्यकता है, जहा वह अपने आचरण द्वारा स्वय उस अधिकार को खो देता है। स्वतन्त्रता दो प्रकार की है, आभ्यन्तर और बाह्य। धर्म आभ्यन्तर स्वतन्त्रता को महत्त्व देता है, किन्तु उसके लिए बाह्य परतत्रता या नियन्त्रण को ठीक नही समझता, इसे वह पाप मानता है। उसके स्थान पर स्वय आत्मानुशासन का मार्ग प्रस्तुत करना है, जो स्वतन्त्रता का विरोधी नही है। राजनीति बाह्य-स्वतन्त्रता को महत्व देती है और इसके लिए नियन्त्रण को आवश्यक

मानती है, किन्तु लोकतन्त्र मे वह नियन्त्रण कम-से-कम होता है। अनिवार्य आवश्यकता के बिना उसका प्रयोग नही किया जाता।

३ समता मानव और मानव मे परस्पर समता है, प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार है और कर्त्तव्य के रूप मे उस पर समान उत्तर-दायित्व है। धर्म, जाति, लिंग, आर्थिक स्तर आदि बाह्य आधारो पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ऊचा नही है। इसके अनेक रूप है—१ व्यवहार की समता, २ अधिकार की समता, ३ अवसर की समता और ४ परिणाम की समता, इत्यादि। धर्म व्यवहार की समता पर बल देता है। समाज भी व्यावहारिक समता पर आधारित होता है, किन्तु उसका क्षेत्र सीमित होता है। लोकतन्त्र अधिकार और अवसर की समता पर बल देता है। उसकी दृष्टि मे प्रत्येक नागरिक के समान अधिकार है और सभी को उन्नति का समान अवसर मिलना चाहिए, किन्तु वह परिणाम की समता का दावा नही कर सकता। बौद्धिक, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से मनुष्य और मनुष्य मे जो स्वाभाविक भेद है, उसे नही मिटाया जा सकता।

४ मित्रता स्वतन्त्रता और समता की रक्षा के लिए मित्रता आवश्यक तत्त्व है। बिना इसके एक की स्वतन्त्रता दूसरे का उत्पीडन बन जाती है और समता हिंसा का रूप ले लेती है। मित्रता का अर्थ है परस्पर सहयोग द्वारा विकास के मार्ग पर अग्रसर होना। वहा दूसरे की विवशता या दुर्बलता से लाभ उठाने की भावना नही रहती, प्रत्युत उसे सहारा देकर ऊपर उठाने की भावना रहती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की उन्नति देखकर ईर्ष्या के स्थान पर प्रसन्न होता है। जबतक मित्रता की भावना है, स्वाभाविक विषमता होने पर भी जीवन मे कटुता नही आती।

५ न्याय मानव मे शारीरिक दुर्बलताओ के समान मानसिक दुर्बलताए भी स्वाभाविक है। वह राग, द्वेष आदि पूर्वग्रहो से घिरा रहता है। फलस्वरूप उसका व्यवहार विषमता-पूर्ण हो जाता है। फिर भी वह अपने दोष को नही जान पाता। अनेक स्थानो पर वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय भी नही कर पाता। अत, एक ऐसी आचार-

सहिता की आवश्यकता होती है, जो सर्वसाधारण का पथ-प्रदर्शन कर सके, सबको मर्यादा मे रख सके। उसी आचार-सहिता का नाम न्याय है। मित्रता स्वतन्त्रता का आवश्यक तत्त्व है और न्याय समता का।

इग्लैंड, अमरीका, फ्रास आदि देश मानव-प्रगति के लिए स्वतन्त्र उद्योग को आवश्यक मानते है, वहा के लोकतन्त्र मे स्वतन्त्रता की भावना मुख्य है और समता उसका सहायक तत्त्व है, दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्र समता को अधिक महत्त्व देते है, उनकी दृष्टि मे समता की रक्षा के लिए स्वतन्त्रता का अपहरण बुरा नही है। मनुष्य की सर्वोत्कृष्टता को सभी स्वीकार करते हैंध किन्तु उसके स्वरूप के विषय मे पर्याप्त मतभेद है, कोई शरीर को महत्त्व देता है, कोई भावनाओ को, कोई बुद्धि को और कोई उनके अन्दर रहे हुए किसी अतीन्द्रिय तत्त्व को। अगले पृष्ठो मे इन्ही प्रश्नो की विस्तृत चर्चा की जायगी।

· २

मानव की सर्वोत्कृष्टता

लोकतन्त्र की प्रथम मूल-भावना मानव की सर्वोत्कृष्टता है। भारत की उच्च दार्शनिक परम्पराओ ने मानव को ही परमात्मा माना है। उसकी अभिव्यक्ति भारतीय साधना का चरम लक्ष्य रहा है। महाभारत मे महर्षि व्यास ने कहा है—मैं एक रहस्य की बात बताता हू कि मनुष्य से बढकर कुछ नही है।

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रो ब्रवीमि।
न मानुषात श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

मार्क्स ने ईश्वर और धर्म को हेय बताया, फिर भी मानव को स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि मे भी मानव की सुख-समृद्धि और उसका विकास समस्त प्रवृत्तियो का लक्ष्य है। अन्तर इतना ही है कि मार्क्स के सामने मानव का जो रूप है, वह भारतीय दृष्टि से अधूरा है।

इगलैड के महान तार्किक ब्रेडले का कथन है कि सैकडो विधेयो की तुलना मे एक उद्देश्य का अधिक मूल्य है। मनुष्य उद्देश्य है और धर्म, समाज, राजनीति आदि विधेय है। वे मनुष्य के लिए है, मनुष्य उनके लिए नही है। अत मनुष्य उनसे ऊचा है, उनके लिए मनुष्य को दवाए रखना या उसकी शक्तियो को कुण्ठित करना उचित नही है।

यदि मनुष्य अन्य वस्तुओ के लिए अपने-आपको भूल जाता है तो उन्हे उद्देश्य बना देता है और स्वय विधेय बन जाता है। स्वय उद्देश्य बनने का अर्थ है बाह्य तत्त्वो की अपेक्षा आन्तरिक तत्त्वो को अधिक महत्त्व देना और उन्हे कभी न भूलना। हम इसे मानव का आध्यात्मिक जागरण कह सकते है, जो लोकतन्त्र का चरम लक्ष्य है।

भारत ही नही, विश्व के समस्त दर्शनो ने मानव के अध्ययन और विकास पर वल दिया है। उपनिपदो ने कहा—'आत्मान विद्धि' अर्थात अपने-आपको पहचानो। यहा आत्मा शब्द का अर्थ केवल ब्रह्म या अतीन्द्रिय तत्त्व नही है। उसमे वे सब हलचलें सम्मिलित हैं, जो वाह्य व्यवहार मे दिखाई देती है। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना, सास लेना, यौन-सम्बन्ध, सकल्प-विकल्प, इच्छाए, विचार-शक्ति, आनन्द की अनुभूति आदि सभी बाते इसमे आ जाती है। इन्हीका वर्गीकरण पचकोशविवेक है। जैन-दर्शन और बौद्धदर्शन ने भी मानवीय वृत्तियो का वर्गीकरण किया है और यह वताया है कि उनमे से कौन-सी स्वाभाविक हैं और कौन-सी बाह्य प्रभाव से उत्पन्न होती है, कौन-सी मगल की ओर ले जानेवाली हैं और कौन-सी अमगल की ओर। बाह्य प्रभाव से मुक्त होने का क्या उपाय है? यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने भी मनुष्य को ही केन्द्र मे रखा। उसका सामाजिक एव अन्य दृष्टियो से वर्गीकरण किया। प्लेटो और अरस्तू ने उन विचारो को आगे बढाया। चीनी दार्शनिक कनफ्यूशस ने राज्य-व्यवस्था को लक्ष्य मे रखकर मानवता का अध्ययन किया। उसका कथन है कि राज्य मे सुख एव शान्ति की वृद्धि के लिए मानव और मानव के परस्पर सम्बन्धो को जानना आवश्यक है।

भारतीय दर्शनो ने मानव का ध्यान किसी उच्च लक्ष्य की ओर

खीचकर उसे राष्ट्रीयता, समाज, धन-सम्पत्ति आदि बाह्य प्रभावो से मुक्त करने का प्रयत्न किया। किसीने उसके आन्तरिक रूप पर बल दिया और किसीने व्यवहार-शुद्धि पर।

यूनानी दार्शनिको का लक्ष्य उसे अधिकाधिक बुद्धिमान बनाना है, जिसमे वह देवता, धर्म, जाति आदि के कल्पित प्रभावो से मुक्त हो सके। अपनी बुद्धि पर भरोसा रखना सीखे और श्रद्धालु बनकर रूढियो तथा परम्पराओ के पीछे भागना छोड दे। कनफ्यूशस ने मानव के सदाचारी होने पर बल दिया, उसकी दृष्टि मे सदाचार का अर्थ है—पडोसी के साथ अच्छा व्यवहार।

हम इन तीन दृष्टियो को आन्तरिक समता, बौद्धिक समता तथा सामाजिक समता के रूप मे प्रकट कर सकते है। आन्तरिक समता का अर्थ है—प्रत्येक आत्मा मे स्वाभाविक समानता। विपमता का कारण वाह्य भेद है, उसे दूर करते हुए मौलिक समता की ओर अग्रसर होना। यही भारतीय साधना का चरम लक्ष्य है। जहा सब प्रकार की विपमताए दूर हो जाती है, उस अवस्था को परमपद या मोक्ष कहा जाता है। बौद्धिक समता का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से स्वतन्त्र होकर मोचने और निर्णय करने का अधिकार। ईश्वर, धर्मपुस्तक या परम्परा का नाम लेकर उसपर कोई निर्णय लादना अन्याय है।

बौद्धिक समता का यह रूप 'स्व' पर 'पर' के प्रभाव की दृष्टि से है। किन्तु जिस प्रकार बुद्धि-गम्य हुए विना दूसरे के निर्णय को स्वीकार करना आत्म-हनन है, इसी प्रकार दूसरे पर अपना निर्णय लादना पर-हनन है। जैन-दर्शन इन दोनो को दूर करना चाहता है। स्यादवाद के रूप मे उसने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसकी मूल प्रेरणा यही है कि हम अपने विचारो को जितना महत्त्व देते है, उतना ही महत्त्व दूसरे के विचारो को भी देना चाहिए। इतना ही नही, उसका कथन है कि दूसरे का दृष्टिकोण समझे विना सत्य का दर्शन नही हो सकता। परस्पर व्यवहार मे समता को भारतीय दर्शनो मे अहिंसा कहा जाता है। दूसरे के माथ व्यवहार करते समय हम उसके स्थान पर अपने को रखकर देखे, यही इसकी कसौटी है। यदि वह व्यवहार हमे बुरा लगता है, तो

दूसरे के साथ उसे न करें।

प्राणिशास्त्र के अनुसार प्राचीन समय मे मानव भी जगल मे रहता था और जगल का न्याय ही उसका न्याय था। जहा बलवान दुर्बल को मारकर खा जाता है, वहा दुर्बल यदि जीवित रहना चाहता है तो दो ही मार्ग हैं। या तो बलवान की आखो से बचकर छिपे-छिपे जीवन व्यतीत करे या उसकी भोग-सामग्री बन जाय। पशु अपने जीवन के लिए अब भी इनमे से किसी प्रकार को अपना रहा है। लाखो वर्षों तक मनुष्य भी इन्हे अपनाता रहा, और यह नही कहा जा सकता कि वर्तमान मानव उन्हे पूर्णतया छोड चुका है। फिर भी वह कुछ सहस्राब्दियो से इन प्रकारो के विरुद्ध असतोष प्रकट कर रहा है। वह चाहता है कि मानव को मानव से भयभीत होने या छिपने की आवश्यकता न रहे। साथ ही यह भी चाहता है कि एक मानव दूसरे मानव का गुलाम या साधन न रहे। दोनो सहयोगी बनकर सुख-समृद्धि की ओर अग्रसर हो। मानव का यह जागरण ही लोकतन्त्र का इतिहास है।

संस्कृति के प्रेत

अरविंद का कथन है—"मृत वस्तुओ के प्रेत बडे कष्टकारक होते है और आज उनका बाहुल्य है—मृत धर्मों, मृत कलाओ, मृत नीतियो, मृत राजनीतिक सिद्धातो के प्रेत अपने विनष्ट शरीरो को बनाये रखने और वर्तमान पदार्थों के लिए प्रयत्नशील रहते है। सगठनो मे जीवन फूकने का दावा करते हैं, किन्तु वस्तुत देखा जाय तो उनकी प्रगति को रोके रखते है।"

धर्म ने मनुष्य को कल्याणकारी मार्ग पर चलाने के लिए ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि तत्त्वो की कल्पना की। किन्तु वे ही उसकी बुद्धि पर परदा डालने लगे। जब मानव ने उनके प्रति सन्देह प्रकट किया और मानसिक बन्धन से मुक्त होना चाहा, तो उसे नास्तिक, काफिर, मिथ्यात्वी आदि शब्दो द्वारा दुतकारा गया। उसके लिए राजकीय तथा सामाजिक दण्डो का विधान किया गया। वास्तव मे देखा जाय तो वह सघर्ष स्वार्थो का सघर्ष था। एक वर्ग ईश्वर, धर्म आदि का नाम लेकर

अपना स्वार्थ सिद्ध करता आ रहा था। अनुकूल चलनेवालो को स्वर्ग मे भेजता था और प्रतिकूल चलनेवालो को नरक मे। एक दिन स्वतन्त्र मानव की चेतना जगी। उसने इन रहस्यो का बुद्धि द्वारा परीक्षण करना चाहा। धर्म के नाम से शोषण करनेवाला वर्ग इस बात को न सह सका। उसने कहा—मनुष्य ईश्वर के लिए है, ईश्वर मनुष्य के लिए नही है, उसका स्वरूप मानव-बुद्धि से परे है। उसे समझने की धृष्टता करना पाप है। वह अगम्य है। शास्त्र उसकी आज्ञाए है और प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि बिना सोचे-समझे उनका पालन करे। यहा-तक कि उन पुस्तको का अध्ययन भी वर्ग-विशेष तक सीमित कर दिया गया। इस प्रकार धर्म का सचालन एक वर्ग के हाथ मे आगया। दूसरे वर्ग मे उसकी प्रतिक्रिया हुई। उसने कहा—ईश्वर या परमात्मा मानव से भिन्न नही है। शास्त्र मानव-बुद्धि का ही सकलन है, उन्हे अगम्य कहकर मानव की ज्ञान और क्रिया-शक्ति को कुण्ठित करना ठीक नही है। प्रत्येक मानव अपने पुरुषार्थ द्वारा परम मानव या परमात्मा बन सकता है। उसे ऊचा उठने के लिए किसी दूसरी शक्ति की शरण लेने की आवश्यकता नही है। यही से धार्मिक जगत मे लोकतन्त्र का प्रारम्भ होता है।

समाज-सस्था का इतिहास भी मानव-जागरण का ही रूपान्तर है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन के लिए दो घेरे बनाता है। पहला घेरा उन व्यक्तियो का है, जिन्हे वह अपना समझता है। इसे हम 'स्व' का घेरा कह सकते है। दूसरा उन व्यक्तियो का, जिन्हे वह 'पर' या शत्रु समझता है। 'स्व' के घेरे मे उसका व्यवहार सहयोगपूर्ण तथा अहिसात्मक होता है और 'पर' के घेरे मे वैमनस्य तथा हिसापूर्ण। 'स्व' के घेरे को लक्ष्य मे रखकर समाज-सस्था की रचना हुई और 'पर' के घेरे को लक्ष्य मे रखकर राज्य-सस्था की।

मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक सगठनो का सदस्य बनना पडता है। फलस्वरूप समाज-सस्था के परिवार, कुल, जाति, मुहल्ला, नगर, व्यवसाय आदि अनेक रूप हो जाते हैं। प्रत्येक सगठन अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए किसी परम्परा को

जन्म देता है। परिस्थिति बदलने पर उसका उपयोग समाप्त हो जाता है। फिर भी वह रूढि के रूप मे सगठन पर छाई रहती है और उसका अनिवार्य तत्त्व प्रतीत होने लगती है। जान पडता है, जैसे उसे छोड देने पर सगठन छिन्न-भिन्न हो जायगा। परिणाम-स्वरूप उपयोगिता समाप्त होने पर भी समाज का प्रत्येक सदस्य उससे चिपका रहता है। इतना ही नही, ऐसी परम्परा मिथ्या अभिमान तथा अस्मिता को जन्म देती है। मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवारे खडी हो जाती है, जो अब भी विश्व का अभिशाप बनी हुई है।

सामाजिक लोकतन्त्र का अर्थ है ऐसी परम्पराओ और थोथी दीवारो को गिराकर मानव-मात्र का समान भूमिका पर आना। जहा मनुष्य मनुष्य है। न वह भारतीय है, न अगरेज, न चीनी, न रूसी, न अफ्रीकी, न हिन्दू, न मुसलमान, न ब्राह्मण और न शूद्र।

एक ओर इन दीवारो को तोडने का प्रयत्न किया जा रहा है, दूसरी ओर नई दीवारे खडी हो रही है। प्राय उनका आधार कोई वास्तविक तथ्य नही होता। सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति का क्षणिक आवेग भी उन्हे खडी कर देता है।

सामाजिक जागरण के रूप मे मानव एक ओर उन कुरीतियो एव रूढियो के विरुद्ध सघर्ष कर रहा है, जो प्रगति को रोके हुए है और उसे पनपने नही देती। दूसरी ओर राष्ट्र, धर्म, जाति आदि के नाम से बनी हुई इन परिधियो को समाप्त कर देना चाहता है, जो विश्व का अभिशाप बनी हुई हैं, जिन्होने अणु तथा उद्‌जन सरीखे भयकर अस्त्रो को जन्म दिया। नया मानव परिधियो को समाप्त करके विश्व-मानव के रूप मे सबको एक भूमिका पर खडा करना चाहता है। उसका यह विश्वास है कि बाह्य भेद केवल कल्पना है। यदि मानव चाहे तो उसे मिटा सकता है।

राज्य-सस्था का इतिहास भी इसी तथ्य को प्रकट करता है। धार्मिक लोकतन्त्र मे मनुष्य ने अतीन्द्रिय तत्त्वो से मुक्ति प्राप्त की, जो उसके मानस को घेरे हुए थे, सामाजिक लोकतन्त्र मे रूढियो और मिथ्या परम्पराओ से जो अस्मिता या अहकार की गाठ बने हुए थे। हम इसे

बौद्धिक तथा मानसिक जागरण कह सकते है। राजनीति के क्षेत्र मे यह जागरण शारीरिक है। प्राचीन मानव छोटे-छोटे कुलो मे रहता था, उनमे परस्पर युद्ध होते रहते थे, जिनका सचालन करने के लिए नेता की आवश्यकता होती थी। कुल के अन्य सदस्य नेता की सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे और वह उनके सरक्षण का। धीरे-धीरे कुलो का परिमाण विस्तृत होता गया। इसके दो कारण थे—

१ सदस्यो की सख्या मे स्वाभाविक वृद्धि, और

२ पराजित कुल का दास के रूप मे विजयी कुल मे सम्मिलित होना।

इस विस्तार के साथ-साथ नेता की महत्त्वाकाक्षाए भी बढती गई। वह अपने को दूसरो से उत्कृष्ट समझने लगा। नेतृत्व का अधिकार अपने वशजो तक सीमित कर दिया। न्याय, दण्ड तथा व्यवस्था-सम्बन्धी सारे अधिकार अपने हाथ मे ले लिये। रक्षक के रूप मे कर्त्तव्य को भूलकर प्रजा को अपनी भोग-सामग्री मानने लगा, उद्दाम लालसाओ एव वासनाओ की तृप्ति के लिए मनमानी करने लगा। जिस दण्ड-शक्ति का सगठन बाह्य आक्रमण एव अपराधो को रोकने के लिए हुआ था, उसका उपयोग प्रजाजनो के दमन मे होने लगा। इतना ही नही, पुरोहित-वर्ग को हाथ मे करके उसने अपने व्यक्तित्व को दैवी रूप दे दिया।

सत्रस्त मानव मे इस अत्याचार की प्रतिक्रिया हुई। उसने अनुभव किया कि राज्य-सिहासन की चमक-दमक उसकी निर्वलता पर टिकी हुई है। मुकुट की कीमत तभीतक है जबतक वह उसे किसी महान शक्ति के रूप मे स्वीकार कर रहा है। उसके अस्वीकार करने पर इसका कोई मूल्य नही है। उसने यह आवाज उठाई कि राजकीय सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे नही रहनी चाहिए। फलत, सत्ता विकेन्द्रित होती गई और उसने वर्तमान लोकतन्त्र का रूप ले लिया, जहा यह स्वीकार किया गया है कि शासक और शासित मे कोई भेद नही है। इस प्रकार एक मानव ने दूसरे मानव के उत्पीडन से मुक्ति प्राप्त की। धार्मिक लोकतन्त्र मे मुख्य भावना थी—स्वतन्त्रता, और यहा मुख्य भावना है—समानता। लक्ष्य के रूप मे स्वीकार करने पर भी यह नही कहा जा

सकता कि मानव उस भूमिका पर पहुच गया है। अब भी धर्म, जाति, राष्ट्रीयता आदि भेद-रेखाए मिटी नही है। मानव अपनी सहार-शक्ति को बढाने लगा है, उसके लिए नये-नये आविष्कार कर रहा है, नये-नये तरीके ढूढ रहा है।

पर्याप्त खाद्य-सामग्री होने पर भी कृत्रिम अभाव खडा किया जाता है और हजारो नर-नारी भूखो मारे जाते है। राष्ट्रीयता के नाम पर मिथ्याभिमान का पोषण किया जाता है और राजकीय कोष का अधिक भाग ऐसे शस्त्रास्त्रो के निर्माण मे खर्च किया जा रहा है, जिनका एक-मात्र उद्देश्य मानव का सहार है। इस परिस्थिति का मुख्य कारण है—मानव का अपने-आपको भूलकर अन्य बातो को महत्त्व देना। जहा शासन-व्यवस्था एक व्यक्ति के हाथ मे होती है, प्रजा शान्ति से नही बैठ सकती। जहा राज्यसिहासन पर किसी वश का एकाधिकार है, वहा भी तरह-तरह के षडयन्त्र चलते रहते है। छोटे भाई बडे भाई को मारकर उसे हथियाने की कोशिश मे लगे रहते हैं। मुगल-शासन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। शासको मे भी परस्पर युद्ध चलते रहते है। प्रजा को शासक की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनी पडती है। अधिनायकवाद मे अशान्ति और भी उग्र हो जाती है। प्रत्येक परिवर्तन के समय विप्लव-सा मच जाता है। शासक वश-परम्परागत हो या अधिनायक, किसी दूसरे की प्रशसा नही सुन सकता। वह अपनी झूठी प्रशसा से प्रसन्न होता है, वस्तुस्थिति को नही जानना चाहता। सच्ची आलोचना करनेवालो को भी दण्ड का भय बना रहता है। वह अपने दोष और दुर्बलताओ को नही जान पाता। सत्ता का उन्माद, उसकी विचार-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। परिणामस्वरूप सार्वजनिक विकास रुक जाता है और जनता की चेतना अन्दर-ही-अन्दर घुटने लगती है। प्रतिक्रिया के रूप मे या तो वह क्रान्ति करती है या स्वाभिमान तथा विचार शक्ति खोकर पशुतुल्य जीवन बिताने लगती है। दोनो अवस्थाए मानव-कल्याण की दृष्टि से हेय हैं।

लोकतन्त्र एक ओर मानव-मात्र की स्वतन्त्र विचार-शक्ति का आदर करता है और दूसरी ओर उसकी सीमाओ को भी पहचानता है।

इसीलिए वहा प्रतिनिधियो को अपने-अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार है। दूसरा व्यक्ति यदि हमारे विचारो को स्वीकार नही करता तो लोकतन्त्र बल-प्रयोग की अनुमति नही देता। वह विचार-विनिमय और चर्चा के लिए कहता है और अन्त मे बहुमत द्वारा निर्णय करने की सिफारिश करता है। चर्चा मे जितने अधिक दृष्टिकोण उपस्थित किये जायगे, उतना ही निर्णय सत्य के अधिक समीप होगा।

दैनदिन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वाणिज्य का जन्म हुआ। कृषि, गो-पालन तथा यत्रो का विकास हुआ। विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा का आविष्कार हुआ और उसके साथ ही व्यक्ति का भी मूल्याकन मुद्रा के आधार पर होने लगा। जिसके पास १०० मुद्राए है उसकी तुलना मे २०० मुद्रावाले को उत्कृष्ट माना जाने लगा। मुद्रा शक्ति और प्रतिष्ठा का एकमात्र केन्द्र बन गई। फलस्वरूप, मनुष्य अपने-आपको भूलकर उसकी उपासना मे लग गया। वह देवता बन गई और मानव उसका पुजारी। उसके लिए मानवीय गुणो का तिरस्कार होने लगा। वर्तमान अर्थशास्त्र मनुष्य को एक यन्त्र मानता है। उसकी धारणा है कि कारखाने मे लगी हुई मशीनो के समान मनुष्य भी एक मशीन है और उसे निश्चित समय तक चलाकर निश्चित परिमाण मे उत्पादन किया जा सकता है। उसकी दृष्टि मे मानव उस वस्तु के लिए है, जिसे वह तैयार करता है। यदि वह इस प्रकार का कोई कार्य नही कर सकता तो वर्तमान अर्थ-शास्त्र की दृष्टि मे उसका कोई मूल्य ही नही है। वहा मनुष्य की प्रवृत्तियो को उत्पादक श्रम तथा अनुत्पादक श्रम के रूप मे विभक्त किया गया है। उनके मूल्याकन का आधार किसी भोग्य वस्तु का निर्माण है। जो व्यक्ति इस प्रकार की कोई वस्तु नही बनाता, अर्थशास्त्र की दृष्टि मे उसकी उपयोगिता नही रहती। आर्थिक लोकतन्त्र का अर्थ है—वाणिज्य एव व्यवसाय के क्षेत्र मे यह भावना जाग्रत करना कि सपत्ति मनुष्य के लिए है, मनुष्य सपत्ति के लिए नही है।

वैज्ञानिक विकास ने मनुष्य की सुख-सुविधाओ को अत्यधिक बढा दिया। प्राचीन समय मे प्लेग, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि छह ईतिया मानी जाती थी। गाव-के-गाव समाप्त हो जाते थे, उनसे बचना

मनुष्य की शक्ति के बाहर था। विज्ञान ने उन्हे समाप्त कर दिया। प्रकृति पर मनुष्य का नियन्त्रण हो गया, किन्तु मनुष्य अपनी इस शक्ति को पचा नही सका। यन्त्रवाद स्वय उसपर हावी हो गया और उसके द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्व को मिटाने की तैयारिया कर रहा है।

विज्ञान ने भौतिक जगत् को वदल दिया, किन्तु वह मनुष्य को नही बदल सका। उसमे अब भी वही वृत्तिया काम कर रही हैं, जो लाखो वर्ष पहले असभ्य मानव मे थी। अव भी वह अपने स्वार्थ तथा वासनाओ को पूर्ण करने के लिए दूसरे का अधिकार छीनने को तैयार रहता है, उसके लिए हिंसक उपायो को काम मे ला रहा है। विज्ञान ने उसकी शक्ति को तो बढा दिया, किन्तु सदुपयोग करना नही सिखाया। परिणाम-स्वरूप वह शक्ति वरदान के स्थान पर अभिशाप बन गई है।

प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वय वदले। यह परिवर्तन त्याग और तपस्या के बिना नही हो सकता। मनुष्य पाषाण और मूर्तिकार दोनो है। अपना असली रूप प्रकट करने के लिए उसे कठोर होकर छैनी का प्रयोग करना होगा और अनावश्यक तत्त्वो को हटाना होगा, जो उसके स्वरूप को ढके हुए हैं। विज्ञान-युग के मानव ने अभीतक इस आवश्यकता को अनुभव नही किया, यान्त्रिक विकास की चकाचौंध मे वह अपनेको भूला हुआ है। उसे यह भान नही है कि उसका उत्तरोत्तर पतन हो रहा है, अपने-आपको खोकर वह यन्त्रो के अधीन होता जा रहा है। उसे अपने जीवन तथा विचार-पद्धति के तरीके बदलने की कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती।

भौतिकवाद क्रूरतापूर्वक बुद्धि और हृदय का दमन कर रहा है। प्राचीन समय मे जो लोग भौतिक आकाक्षाओ को छोडकर आन्तरिक गुणो का विकास करते थे, वे ही समाज के नेता बनते थे। सर्वसाधारण से लेकर राजा तक सभी उनके प्रति श्रद्धा रखते थे। उन्होने मानवता का स्वय विकास किया और दूसरो को उसका सन्देश दिया। वर्तमान विज्ञानवाद की दृष्टि सर्वथा भिन्न है। वह चेतन को छोडकर जड को महत्व दे रहा है। इसमे परिवर्तन की आवश्यकता है।

पुन. यह समझने की आवश्यकता है कि जड की अपेक्षा चेतन का

अधिक महत्व है। गणित तथा विज्ञान का अध्ययन जितना आवश्यक माना जाता है, धर्म, नैतिकता तथा साहित्यशास्त्र का अध्ययन उससे भी अधिक आवश्यक है। चिकित्सक सन्तुलित दृष्टि होने पर यह मानने लगेंगे कि रोग के लिए धातु-वैषम्य का जितना महत्व है, उससे भी अधिक मानस-ग्रन्थियो का है। शारीरिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना जितना आवश्यक है, उससे भी अधिक आत्मा के स्वास्थ्य पर ध्यान देने की जरूरत है। जिस प्रकार सक्रामक रोग से बचने के लिए छूत के रोगी को सर्वसाधारण से अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार मानसिक तथा आध्यात्मिक रोगी को भी पृथक करना आवश्यक समझा जायगा, जिससे उसकी बीमारी फैलने न पावे। शरीर मे रोग उत्पन्न करनेवाले रहन-सहन को जितना बुरा माना जाता है, उतना बुरा वह जीवन है, जो अनैतिकता, दुराचार, पागलपन, विलासिता या अपराध-वृत्ति को प्रोत्साहन देता है। मस्तिष्क की उपेक्षा करके केवल शरीर की ओर ध्यान देनेवाला चिकित्सक अल्पज्ञ समझा जायगा और उसके स्थान पर इस व्यवसाय का ऐसा सगठन किया जायगा, जिससे बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी तत्त्वो पर ध्यान दिया जा सके। चिकित्सा-शास्त्री के लिए यह जानना भी आवश्यक होगा कि रक्त-प्रवाह तथा नाड़ियो के सचालन मे मानस-अनुभूतियो का क्या स्थान है और उनका किस प्रकार परस्पर प्रभाव होता रहता है।

अर्थशास्त्री तब यह अनुभव करेगे कि मानव को जिस प्रकार भूख और प्यास लगती है और वह विश्राम करना चाहता है, उसी प्रकार सुख-दुख की भावना तथा राग-द्वेष आदि के सस्कार भी स्वाभाविक हैं। उसे वासना-पूर्ति, भोजन तथा विश्राम के अतिरिक्त अन्य बातो की भी आवश्यकता है। शारीरिक आवश्यकताओ के समान आत्मा की आवश्यकताए भी हैं। आर्थिक तथा व्यावसायिक सकट का कारण केवल उपभोक्ता या विक्रय वस्तुए नही है, उसका कारण विक्रेता की लोभवृत्ति तथा राजनैतिक स्वार्थ भी हो सकते है। जो यान्त्रिक विकास मानव के विकास मे बाधक है, उसे छोड़ना होगा। अर्थोपार्जन उपादेयता का मापदण्ड नही रहेगा।

भौतिकवाद ने मूल्याकन के जो आधार बनाये है, उनमे मानव की सर्वथा उपेक्षा की गई है। उन्हे अपनाकर मानव अपने-आपको भूलता जा रहा है। उन धारणाओ के दूर होते ही वह अपने अस्तित्व को नये रूप मे देखेगा और मूल्याकन के नये आधार बनायगा।

इसके लिए चिकित्सा, प्राणि-विज्ञान, रसायन, भौतिक विज्ञान आदि सभी की मूल धारणाओ को बदलना होगा। वर्तमान वैज्ञानिक के मस्तिष्क मे जो धारणाए जमी हुई है, जिनके आधार पर उसका कार्य चल रहा है, वे एकदम बदल जायगी।

मानव और शिक्षा-पद्धति

लोकतन्त्रीय जीवन को मानव का स्वभाव बनाने के लिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति मे आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। एक ओर उन धारणाओ को बदलना होगा, जो बालक को यह सिखाती हैं कि बिना निजी गुणो के भी वह दूसरे बालको मे बडा है। उदाहरण के रूप मे, ब्राह्मण का बालक जन्म से ही अपनेको शूद्र के बालक से बडा समझता है, क्षत्रिय का बालक अपने पूर्वजो की वीरता के राग अलापता है और दूसरे बालको से अपने श्रेष्ठ होने का दावा करता है। धनवान का बालक यह दावा पिता की सम्पत्ति के आधार पर करता है। इन सस्कारो का कुपरिणाम यह हुआ है कि बहुत-से दुर्गुण भी गुण माने जाने लगे है। तथाकथित उच्च-वर्ग के बालक बहुत-से ऐसे काम करने मे हिचकिचाते हैं, जो जीवन के लिए आवश्यक है। सम्पन्न कुल के बालक हाथ से काम न करना, बैठे-बैठे हुक्म चलाना तथा विलासिता को अपना गौरव समझते है। बहुत-सी शिक्षा-सस्थाओ मे जन-सामान्य का बालक अध्ययन नही कर सकता। ऐसी सस्थाओ से निकले हुए बालक बडे होने पर अपनेको एक विशेष वर्ग का सदस्य मानते हैं और सर्व-साधारण मे मिश्रित होना अपनी प्रतिष्ठा से नीचे की बात समझते है। ऐसे बालको मे कुल-गौरव, सम्पत्ति तथा दूसरे तत्त्व मानवता को दबाये रखते है। लोकतन्त्रीय भावना नही पनपने पाती। वे कष्ट-सहिष्णुता तथा परिश्रम से घबराते है। दूसरे से प्रेम करने के स्थान पर घृणा को

गौरव की बात मानते हैं। वे मानवता का पुनर्निमाण नही कर सकते। लोकतन्त्रीय सस्कार डालने के लिए यह आवश्यक है कि बचपन मे ही सबके प्रति समान भावना, प्रेम, कष्ट-सहिष्णुता, परिश्रम तथा निजी गुणो के विकास पर बल दिया जाय। तभी मानवता-विरोधी सस्कारो को दूर किया जा सकता है।

लोकतन्त्रीय सस्कारो का बीजारोपण करने के लिए बचपन का जितना महत्व है, उतना बडी आयु का नही है। अपरिपक्व अवस्था मे जो सस्कार पड जाते है, वे ही समस्त जीवन का सचालन करते है। बचपन मे भले ही उनकी अभिव्यक्ति न होती हो, किन्तु बडी उम्र मे वे ही जीवन के सचालक बन जाते हैं। आयु-वृद्धि के साथ-साथ उनका महत्व बढता चला जाता है। वृद्धावस्था मे इन्द्रिया शिथिल हो जाती है, किन्तु शरीर और मस्तिष्क काम करते रहते हैं। उस समय बचपन की अपेक्षा अनुशासन की अधिक आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति बडी उम्र होने पर भी सयम नही रखते, वे स्वस्थ नही रह पाते। जो तत्त्व बालक तथा युवक का चरित्र-निर्माण करते है, वे ही बुढापे मे स्वास्थ्य तथा शक्ति को कायम रखते है। यदि उनका ढग से विकास किया जाय तो बडी उम्र होने पर भी शरीर तथा मस्तिष्क को स्वस्थ रखा जा सकता है। हजारो व्यक्तियो को पागलपन तथा बौद्धिक ह्रास से बचाया जा सकता है। वृद्धो की परिपक्व बुद्धि राष्ट्र की बहुत बडी निधि होती है। उसे जितना अधिक सुरक्षित किया जा सकेगा, उतना ही लाभ होगा।

लोकतन्त्र और वैयक्तिक विशेषताएं

शिक्षा का प्रत्येक बालक के मानस पर एक-सा असर नही होता। इसके लिए विद्यार्थी की शारीरिक तथा मानसिक दोनो विशेषताओ पर ध्यान देना होगा। बलवान और दुर्बल, भावुक और कठोर, स्वार्थी और उदार, बुद्धिमान और मूर्ख, उद्यमी और आलसी आदि मे मानसिक प्रभाव की प्रतिक्रिया एक-सी नही होती। शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिए ऐसी कोई पद्धति नही है, जो सबके लिए एक-सी

लाभदायक हो ।

बाह्य परिस्थितियो का भी सर्वत्र एक-सा प्रभाव नही होता। एक ही बात एक व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है, दूसरे को कुचल डालती है। सकट आने पर एक जाति पुरुषार्थ के बल पर खडी होती है, दूसरो पर साम्राज्य स्थापित कर लेती है। दूसरी घुटने टेक देती है और दुख एव दारिद्रय का जीवन भोगती हुई गुलाम बन जाती है। इन परिस्थितियो का सामना करने के लिए लोकतन्त्र को विचारपूर्वक चलना होगा। बिना सोचे-समझे सबपर एक-सा ढाचा लाद देने पर लक्ष्य-सिद्धि नही होगी, विकास को लक्ष्य मे रखकर विभिन्न व्यक्तियो तथा जातियो के मानसिक धरातल, जातीय चरित्र, स्वभाव तथा अन्य विशेषताओ का अध्ययन करना होगा और उन्हे ध्यान मे रखकर विकास-योजनाए बनानी होगी, अर्थात वाह्य समता की अपेक्षा आतरिक समता पर अधिक ध्यान देना होगा।

मानव को समझने तथा उसका विकास करने के लिए चारो ओर अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। धर्माचार्य, दार्शनिक, वैज्ञानिक, चिकित्सक, जननायक तथा अन्य व्यक्ति इस कार्य मे लगे है। फिर भी, परिणाम सतोषजनक नही है। समाधान का दावा करनेवाले स्वय समस्याए खडी कर रहे है, इसका कारण एकान्तवाद है। सभी अपने-अपने एकागी दृष्टि-कोण को महत्व दे रहे है। आवश्यकता इस बात की है कि उन सभी का समन्वय करके समग्र रूप को उपस्थित किया जाय। इसके लिए उन सभी विद्याओ का अध्ययन करना होगा, जिनका साक्षात या परम्परया मानव के साथ सबध है। एकागी दृष्टिकोण को समाप्त करके व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। इसका अर्थ है, धर्म, विज्ञान आदि क्षेत्र एक-दूसरे की निंदा करना बद करके जब सपूर्ण सत्य की ओर बढेंगे, तभी मानव की सच्ची सेवा कर सकेंगे।

हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या इस प्रकार का अध्ययन सम्भव है ? क्या एक ही व्यक्ति सभी विषयो पर आधिपत्य प्राप्त कर सकता है ? नोबल-पुरस्कार-विजेता कैरल का कथन है कि यह असम्भव नही है। इसके लिए दो प्रकार का प्रयत्न आवश्यक है। एक ओर शिक्षा-

प्रणाली मे से उन बातो को निकाल देना होगा, जिनका जीवन के साथ सम्बन्ध समाप्त हो चुका है, जो व्यर्थ ही मस्तिष्क का बोझ बनी हुई हैं, दूसरी ओर शिक्षार्थियो मे निष्ठा उत्पन्न करनी होगी। इस प्रकार का वातावरण तैयार होने पर कुछ व्यक्ति अवश्य ऐसे निकल आयगे, जो मानव के सर्वांगीण अध्ययन के लिए अन्य सुखो को छोड दें। ऐसे व्यक्ति ही मानवता के सच्चे उद्धारक बन सकेगे।

इसके लिए ऐसी सस्थाओ की आवश्यकता है, जहा विद्यार्थी को शरीर और आत्मा के स्वाभाविक नियमो के अनुसार रहने की शिक्षा दी जा सके। उसे पुरानी धारणाओ के चक्र मे न फसाकर सीधे-सादे शब्दो मे सत्य को उपस्थित किया जाय। वर्तमान शिक्षा-सस्थाओ मे विद्यार्थी यह तो जान जाता है कि किस विचारक या विद्वान ने क्या कहा है, उनके परस्पर खण्डन-मण्डन पर बडे-बडे लेख लिख सकता है, किन्तु अपनी कोई धारणा नही बना पाता। वह दूसरो की आखो से देखता है, दूसरे के कानो से सुनता है और दूसरे की जीभ से रस का अनुभव करता है। इस स्थिति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को जमी हुई धारणाओ से बचाया जाय। उसे निजी प्रयोग और अनुभवो पर निर्भर रहने की शिक्षा दी जाय। पाश्चात्य वैज्ञानिक मानते है कि जड के समान चेतन का भी वर्गीकरण और उसके द्वारा मानव पर नियत्रण किया जा सकता हैं। वस्तुओ मे परस्पर भेद का कारण परमाणुओ की न्यूनाधिकता है। प्रकार-भेद उसीसे उत्पन्न होता है। मनुष्य और मनुष्य मे परस्पर भेद का भी यही कारण है। उनका दावा है कि जड पर नियत्रण होने पर हमारे समग्र व्यक्तित्व पर नियत्रण किया जा सकेगा। किन्तु यह दावा अभीतक सत्य सिद्ध नही हुआ है। वे मनुष्य को जितना समझ सके हैं, उससे बहुत अधिक समझना अभीतक बाकी है।

वर्तमान विज्ञान यदि वास्तव मे मानव को स्वस्थ एव सुखी बनाना चाहता है तो उसे अन्य विद्याओ की सहायता लेनी होगी। शरीर के साथ मन और आत्मा का भी अध्ययन करना होगा।

चिकित्सा-विज्ञान को रोग-निवारणतक सीमित न रखकर ऐसी जीवन-पद्धतियो का विकास करना होगा, जिसमे वे उत्पन्न ही न हो। मानसिक

स्वास्थ्य के लिए धर्म और दर्शन का सहारा लेना होगा। बाह्य परिस्थितियो पर नियत्रण तथा अभाव और अन्याय को दूर करने के लिए राजनीति एव अर्थशास्त्र का सहारा लेना होगा, प्रकृति से लाभ उठाने के लिए भौतिक विज्ञान का। इस प्रकार सबके मिलने पर ही उसे मानव-विज्ञान कहा जा सकेगा। वह मानवता को प्राकृतिक नियमो के अनुसार चलने की शिक्षा देगा। साथ ही उन नेताओ को प्रोत्साहन देगा, जो मानव को ऊचा उठाना चाहते है। इस समय शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, विकास-योजनाए, सामाजिक तथा आर्थिक सगठन ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे है, जिन्हे मानव के एक अश का ज्ञान है। हम यह नही कहना चाहते कि राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री के स्थान पर इजीनियर को नियुक्त किया जाय। हमारा इतना ही कथन है कि जिन व्यक्तियो के हाथ मे मानव का भविष्य है, जो राष्ट्र तथा समाज का सचालन कर रहे है, उनका ज्ञान एकपक्षीय नही होना चाहिए और न उन्हे अपनी जमी हुई धारणाओ को लेकर मानवता का सचालन करना चाहिए। डेकार्ट का कथन है कि यदि चिकित्सा-शास्त्री मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तथ्यो का भी अध्ययन करे तो वे मानव को पूर्णतया सुखी बना सकते है। साथ ही यह भी जानना होगा कि समाज और भौतिक जगत के साथ मानव का क्या सम्बन्ध है ?

मानव और बाह्य परिस्थिति

मानव का विकास मध्यम स्थिति मे ही होता है। अत्यन्त दरिद्रता और अत्यन्त समृद्धि दोनो विकास के प्रतिकूल है। इसी प्रकार, पूर्ण शान्ति तथा अत्यधिक अशान्ति, बहुत बडा समाज तथा एकाकीपन भी विकास के विरोधी है। व्यक्ति का विकास ऐसी परिस्थिति मे ही हो सकता है, जहा आर्थिक सुरक्षा के साथ परिश्रम भी अनिवार्य है, व्यस्तता और विश्राम का सुन्दर समन्वय है, जहा समाज या अन्य तत्त्व व्यक्तित्व का दमन न करें।

मनुष्य को प्रभावित करनेवाले तत्त्व दो श्रेणियो मे विभक्त किये जा सकते है। पहली श्रेणी उन तत्त्वो की है, जो बाहर से प्रभावित करते

है। उनका कारण दूसरा व्यक्ति या समाज होता है। उदाहरण के रूप मे सुरक्षित या अरक्षित अवस्था, सम्पन्नता या दरिद्रता, प्रयत्न, सघर्ष, आलस्य, उत्तरदायित्व आदि तत्त्व विविध प्रकार के सस्कारो को उत्पन्न करते है, जिनसे मनुष्य का चरित्र निर्मित होता है। दूसरी श्रेणी आभ्यन्तर तत्त्वो की है जो अन्दर से ही प्रभावित करते है। जैसे—ध्यान, एकाग्रता, इच्छा-शक्ति, सन्यास या त्याग आदि।

स्वस्थ मानव मे सवसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि उसकी मानसिक और शरीरिक हलचलो मे एकसूत्रता हो। इसे प्राप्त करने के लिए जीवन मे अनुशासन तथा सयम की आवश्यकता है। मनुष्य का इन्द्रियो तथा शारीरिक आवश्यकताओ को तृप्त करने की ओर स्वाभाविक झुकाव होता है। किन्तु उनकी तृप्ति के साथ वह उत्तोत्तर गिरता जाता है। तृप्ति नई, उग्रतर तृष्णा को जन्म देती है और मानव अपनेसे दूर होता चला जाता है। स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए उसे इन्द्रिय-तृप्ति का मार्ग छोडकर दूसरा मार्ग अपनाना होगा। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, काम-वासना, आलस्य तथा हिंसक वृत्तियो पर विजय प्राप्त करनी होगी।

हमारी श्रेष्ठता का मापदण्ड विपरीत परिस्थितिया है। जो व्यक्ति शान्त रहकर उन्हे दीर्घकाल तक सहन करने की जितनी सामर्थ्य रखता है, उतना ही श्रेष्ठ है। सामर्थ्य अनेक प्रकार के सस्कारो तथा अभ्यासो से प्राप्त होता है।

आवश्यकता इस वात की है कि हमारा लक्ष्य भोजन, वासना-पूर्ति आदि पाशविक वृत्तियो से हटकर कोई उच्च तत्त्व वन जाय। ऐसा लक्ष्य वनने पर उत्तरोत्तर उसकी ओर वढने मे सुख का अनुभव होगा, उसके लिए साधारण आवश्यकताए एव इच्छाए अपने-आप दव जायगी। जव हम पर्वतारोहण या अन्य किसी अभियान पर अग्रसर होते है तो भूख, प्यासऔर थकावट को भूल जाते है। उन्हे सहन करने मे आनन्द आता है। इसी प्रकार, यदि मानवता का ध्यान किसी उच्च लक्ष्य पर स्थिर हो जाय तो भौतिक आकाक्षाए अपने-आप मन्द हो जायगी। उनसे होने वाली अतृप्ति मिट जायगी औ रउस लक्ष्य की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति मे आनन्द आने लगेगा। इसीको हम मानव का जागरण कह सकते है।

मानवता का स्वरूप

मानव की सर्वश्रेष्ठता को हृदयगम करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य क्या है, उसके जीवन का क्या लक्ष्य है, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, ऐसे कौन-से तत्त्व है जो पनपने नही देते, और उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है ? अगले पृष्ठो मे इन्ही प्रश्नो की चर्चा की जायगी ।

समाजविज्ञान ने मानव का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया है। एक ओर व्यक्ति-वादियो का कथन है कि प्रत्येक मानव अपने-आपमे इकाई है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन दूसरे से भिन्न है। ऐसे दो व्यक्तियो को उपस्थित नही किया जा सकता, जिनकी मुखाकृति, ध्वनि, हलचल, बुद्धि तथा इच्छाए एक-सी हो। न्यायालयो मे अगूठे या अगुलियो के मुद्रण द्वारा व्यक्तियो का परस्पर भेद पहचाना जाता है। एक व्यक्ति के हस्ताक्षर दूसरे से नही मिलते।

दूसरी ओर समष्टिवादियो का कथन है कि भिन्नता केवल बाह्य है, समस्त मनुष्यो मे छिपा हुआ आन्तरिक तत्त्व एक है। वही सच्चा मनुष्यत्व है। उसकी अभिव्यक्ति के विना मानव अपनी समस्याओ का समाधान नही कर सकता। धर्म तथा दर्शन उसी अन्तर्मानवता की अभि-व्यक्ति पर वल देते हैं। समाजशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद तथा अन्य विज्ञान भी इस वात को मानकर चलते है कि एक मानव दूसरे मानव के समान है। जो वात एक व्यक्ति के लिए हितकर या सुखकर है, वह दूसरे के लिए भी हितकर तथा सुखकर होगी। किन्तु मनोविज्ञान तथा कला के विकास ने यह वताया कि सभी की अनुभूतिया एक-सी नही होती। एक व्यक्ति सौन्दर्य को देखकर प्रसन्न होता है, दूसरा वीभत्स या विकृत रूप को देखकर। एक प्रेम तथा अहिंसा का उपासक है, दूसरो को सुखी तथा हँसते हुए देखकर आनन्द का अनुभव करता है, दूसरा घृणा तथा द्वेष लिये रहता है, दूसरे को सुखी देखकर उसके मन मे ईर्ष्या या जलन पैदा होती है। उसके मन को ऐसे दृश्यो से सन्तोष प्राप्त होता है, जहा दूसरे रो रहे हो या कष्ट-पीडित हो।

जहातक राजनीति का प्रश्न है, एक ओर समाजवाद व्यक्ति को

समाज-यन्त्र का पुर्जा मानता है। वह उसके वैयक्तिक जीवन और अस्तित्व को वहीतक महत्त्व देता है, जहांतक वह समाज के सचालन या विकास मे सहायक है। वहा वैयक्तिक भावनाओ या महत्त्वाकाक्षाओ का कोई अर्थ नही है। दूसरी ओर, ऐसा वर्ग है, जो वैयक्तिक जीवन को सर्वोपरि मानता है। उसकी दृष्टि मे वैयक्तिक इच्छा-पूर्ति के लिए सामाजिक नियमो को तोडने मे कोई हानि नही है। उसका कथन है कि समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नही है। समाजवाद ने वैयक्तिक प्रतिभा तथा महत्त्वाकाक्षाओ को कुण्ठित कर दिया। दूसरी ओर निरर्गल व्यक्तिवाद ने उच्छृखलता को प्रोत्साहन दिया।

लोकतन्त्र दोनो दृष्टियो का समन्वय करता है, और कहता है कि अपने-अपने स्थान और मर्यादाओ मे दोनो आवश्यक है। समाज का सहारा लिये विना व्यक्ति ऊपर नही उठ सकता। दूसरी ओर, प्रगति का इतिहास उन क्रान्तिकारियो का इतिहास है, जो सामाजिक बन्धनो को तोडकर आगे निकल गये। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक मर्यादाए इतनी कठोर भी नही होनी चाहिए कि स्वतन्त्र व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाय। सफल लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति और समाज दोनो का ध्यान रखे।

मानव-विकास के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक—'दोनो तत्त्वो पर ध्यान देने की आवश्यकता है। सामूहिक वर्गीकरण के विना राजनीति, समाजशास्त्र, चिकित्सा आदि विद्याओ का विकास नही हो सकता। हमारा मस्तिष्क वहुत-से व्यक्तियो को देखकर किसी सर्वसाधारण तत्त्व की कल्पना करता है। उसी आधार पर सिद्धान्त और नियम रचे जाते है। प्लेटो तथा वर्तमान वैज्ञानिक सामूहिक निरीक्षण के आधार पर स्थिर किये गए इन्ही सिद्धान्तो को वास्तविक मानते है। इन्हीके आधार पर हम व्यक्ति या ठोस पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करते है। सामान्य का ज्ञान विशेप के ज्ञान मे सहायक होता है। इसी सामान्य सिद्धान्तो के आधार पर व्यक्तियो का वर्गीकरण किया जाता है।

दूसरी ओर व्यक्तियो का अध्ययन सामान्य सिद्धान्तो के विकास तथा सशोधन मे सहायक होता है। वह उन्हे समृद्ध वनाता रहता है। जितने

अधिक व्यक्तियो का अध्ययन किया जायगा, मानव-विज्ञान उतना ही समृद्ध होता जायगा ।

प्लेटो का कथन है कि सिद्धान्त स्थायी या अपरिवर्तनीय नही होते, हमारी बुद्धि ज्यो-ज्यो प्रत्यक्ष अनुभूतियो के प्रवाह मे अवगहन करती है, उनका परिष्कार होता रहता है । यही उनका सौन्दर्य है। इसके विपरीत, जो सिद्धान्त नये अनुभवो के अनुसार परिवर्तित नही होते, वे सत्य से पिछड जाते हैं ।

पाश्चात्य मनोविज्ञान का अध्ययन बुद्धि, मन और इन्द्रियो तक सीमित है । उसके सामने भी मनुष्य का समग्र रूप नही है। इसीलिए वह अपने दावो को सत्य सिद्ध नही कर सका ।

भौतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान ने जितना पता लगाया है, मानव वही तक सीमित नही है । इसके लिए अध्यात्म-शास्त्र का भी आश्रय लेना आवश्यक है । विज्ञान की विविध शाखाओ ने अपनी-अपनी उपयोगिता को लेकर मनुष्य का अध्ययन किया। फलस्वरूप, अपने-अपने घेरे को महत्त्व दे रहे हैं। कोई भी सम्पूर्ण मानव को नही जान सका ।

हमारे सामने दो प्रकार का विश्व है। एक ओर वे तथ्य हैं, जिनका हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं, दूसरी ओर शब्द अथवा अन्य प्रकार की अभिव्यक्तिया है, जिनके द्वारा उन तथ्यो को प्रकट किया जाता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम अनुभूति तथा युक्ति, दोनो का सहारा लेते है। युक्ति का आधार अनुभूतियो; के आधार पर बनाये गए सामान्य सिद्धान्त होते है। किन्तु, प्राय युक्ति को ठोस सत्य मान लिया जाता है, और तथ्यो को जमी हुई धारणाओ की अभिव्यक्ति। वहा मानव एक व्यक्ति न रहकर जाति या किसी सामान्य की अभिव्यक्ति-मात्र रह जाता है। शिक्षा, चिकित्सा, समाज-शास्त्र आदि मे होनेवाली भूलो का मुख्य कारण यही है। जो वैज्ञानिक, दार्शनिक या बौद्धिक विश्लेपण से अपरिचित है, वह कारीगर या शरीर-शास्त्री के समान एक ही यन्त्र के अगोपागो को देखता रहता है। उसकी दृष्टि मे सामान्य और विशेष का परस्पर भेद स्पष्ट नही होता। मनुष्य के अध्ययन के लिए दोनो बातो का ज्ञान आवश्यक है। मनुष्य को व्यक्ति

तथा जाति दोनो रूपों मे समझना होगा। शिक्षा-विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र का मुख्य सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है। यदि वह उसे जाति-विशेष का सदस्य समझते है तो पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। वैयक्तिक वैशिष्टच मानव का मौलिक तत्त्व है। वह हमारे समस्त अस्तित्व पर छाया हुआ है, शरीर-सचालन तक ही सीमित नही है। इसके द्वारा व्यक्ति विश्व के इतिहास मे विशेष घटना के रूप मे उपस्थित होता है। शरीर तथा चेतना की समस्त हलचल पर उसकी स्पष्ट छाप रहती है।

एक ही गर्भ से उत्पन्न हुई युगल सतान मे भी परस्पर भेद दिखाई देता है। दोनो बच्चो का शारीरिक गठन, बौद्धिक स्तर, इच्छाएं तथा चेष्टाए एक-सी नही होती। इस भेद का कारण बाह्य वातावरण भी होता है, अर्थात एक गर्भ से उत्पन्न दो बालक भी विभिन्न वातावरण मे पलने पर विभिन्न स्वभाव के हो जाते हैं। इतना ही नही, एक ही गर्भ से उत्पन्न और एक-से वातावरण मे पले बालक भी परस्पर एक-से नही होते। इससे यही सिद्ध होता है कि उनमे भेद करनेवाला कोई अव्यक्त कारण है। प्राणि-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, जाति-विज्ञान, मनो-विज्ञान आदि ने मनुष्य का विश्लेपण अनेक प्रकार से किया है।

प्रत्येक मनुष्य मे दो तत्त्व मिले रहते है। कुछ तत्त्व सभी मे एक-से होते हैं। हम उन्हे जातीय तत्त्व कह सकते हैं। दूसरी ओर, कुछ तत्त्व भिन्न-भिन्न होते हैं। उन्हे वैयक्तिक तत्त्व कहा जा सकता है। जातीय तत्त्वो के आधार पर वर्गीकरण का प्रयत्न किया जाता है; किन्तु वैयक्तिक तत्त्व उसे विफल कर देते हैं।

भारतीय विचारको ने मनुष्य का सर्वाङ्गीण रूप से अध्ययन का प्रयत्न किया है, और यथासभव किसी अश को नही छोडा। उन्होने भौतिक-विज्ञान की उपेक्षा नही की। साथ ही, उसकी सीमाओ का भी ध्यान रखा। उन्होने आत्मा और,शरीर, शाश्वत और अशाश्वत, चेतन और जड, सभी रूपो पर ध्यान दिया।

मानव और वर्तमान विज्ञान

गैलीलियो ने भौतिक पदार्थों में प्रतीत होनेवाले गुणो को दो भागो मे विभक्त किया। वजन और विस्तार को मौलिक गुण बताया, और रूप रस, गध आदि को उत्तर-गुण। मानव का भी इसी प्रकार विश्लेषण किया गया, और उसे जड और चेतन दो रूपो मे विभक्त कर दिया गया। वर्तमान विज्ञान ने जड भाग को मूल गुण समझा और चेतन को उत्तर-गुण। साथ ही, उसने यह दावा किया कि मूल गुण को समझ लेने पर उत्तर -गुण अपने-आप समझ मे आजायगे। किन्तु यह दावा ठीक न उतरा, मनुष्य जितना बाहर है, भीतर उससे अधिक है। यहा जड की अपेक्षा चेतन का अधिक महत्त्व है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि मनुष्य मे चेतन मूल-तत्त्व है, और जड उसका आश्रय लेकर विकसित होनेवाला उत्तर-तत्त्व। धर्म और विज्ञान मे यही दृष्टि-भेद है। विज्ञान जड को मूल-तत्त्व, और चेतन को उत्तर-तत्त्व मानता है। धर्म का कथन इसके विपरीत है।

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र ने मनुष्य का विश्लेषण दो प्रकार से किया है। रोग की दृष्टि से उसके दो भेद है। कुछ व्यक्तियो की प्रकृति क्षय-प्रधान होती है, अर्थात उनके श्वास-यन्त्र धीरे-धीरे दुर्वल होते चले जाते है। इसके विपरीत, कुछ व्यक्तियो की प्रकृति रक्त-प्रधान होती है। उनमे रोग की उत्पत्ति रक्त-विकार के कारण होती है। दूसरा विश्लेपण चार धातुओ के रूप मे है। वह है—१ रक्त, २ कफ, ३ काला-पित्त और ४ पीला-पित्त। इस आधार पर मनुष्य की प्रकृति अर्थात स्वभाव चार प्रकार का वताया जाता है—उष्ण, शीत, आर्द्र और शुष्क। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र इसका प्रतिपादन त्रिधातु अर्थात वात, पित्त और कफ के रूप मे करता है। यह अध्ययन केवल शरीर तक सीमित है। वह मनुष्य की अधिकतर समस्याओ का समाधान नही कर पाता। आधुनिक शरीर-शास्त्री मानने लगे है कि चिकित्सा-शास्त्र ने मानव को जितने अश मे समझा है, उसमे बहुत बडा भाग अभीतक अज्ञात है। उसे जान लेने पर ऐसी अगणित व्याधिया दूर की जा सकेंगी, जिन्हे अबतक अचिकित्स्य समझा जा रहा है। इतना

ही नही, दुर्बलता तथा बुढापे को दूर करके आयु को बढाया जा सकेगा।

मनोविज्ञान के आचार्य फ्रायड ने मनुष्य का दूसरा रूप उपस्थित किया। उसने शरीर की उपेक्षा करके मानस के अध्ययन पर बल दिया। उसका दावा था कि मानस-ग्रथियो के अध्ययन द्वारा सभी समस्याओ को सुलझाया जा सकेगा। किन्तु वह सत्य सिद्ध नही हुआ, उसका दृष्टिकोण भी एकागी है। आत्मा, मन और शरीर तीनो आवश्यक तत्त्व है।

मनुष्य क्या है ?

उपनिषदो मे एक सवाद आया है। देवो के राजा इन्द्र और राक्षसो के राजा वैरोचन प्रजापति के पास गये, और उनसे ब्रह्म का स्वरूप पूछा। प्रजापति ने उत्तर दिया—"आखो से दिखाई देनेवाला पुरुष ही ब्रह्म है। उत्तर सुनकर वैरोचन सतुष्ट हो गए और स्थूल शरीर को ब्रह्म मानने लगे, किन्तु इन्द्र उस उत्तर मे सतुष्ट न हुए। उन्होने फिर पूछा। प्रजापति ने बताया कि पाच कर्मेन्द्रिया और पाच प्राण-वायु, जिनके कारण शरीर मे हलचल होती है, वह ब्रह्म है। इस पर भी इन्द्र को सतोप नही हुआ। उन्होने पुन पूछा। प्रजापति ने क्रमश मन, बुद्धि और अहकार को ब्रह्म बताया। अत मे, सूक्ष्म विचार करने पर यह प्रतीत हुआ कि वह इन सबसे परे है। इसी आधार पर उपनिषदो मे पाच कोशो का प्रतिपादन किया गया है। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, वृक्ष, वनस्पति आदि स्थावर प्राणियो मे उसीका प्रभुत्व होता है। उससे सूक्ष्म प्राणमय कोश है, जो शरीर मे हलचल पैदा करता है। इसके घटक पाच कर्मेन्द्रिया और शरीर के अन्तर्गत पाच प्रकार के वायु है। उससे सूक्ष्म मनोमय कोश है, जो सकल्प, विकल्प तथा इच्छाओ का कारण है। उससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय कोश अर्थात विचारशक्ति है। उससे भी सूक्ष्म आनन्दमय कोश अर्थात अस्मिता की अनुभूति है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख का अनुभव करता है। इन सब कोशो का आधारभूत शुद्ध चैतन्य है, जो सबसे परे है।

इन कोशो का विभाजन तीन शरीरो के रूप मे किया जाता है। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है। जैन-दर्शन मे इसीको औदारिक शरीर कहते है। बीच के तीन कोश सूक्ष्म शरीर है। इन्हे तैजस शरीर भी कहा जाता है। आनन्दमय कोश लिंग-शरीर या कारण-शरीर है। जैन-दर्शन मे इसे कार्माण शरीर कहा गया है। सबका अधिष्ठान आत्मा है, जिसका आश्रय पाकर शरीर अथवा कोश कार्य करते है।

धार्मिक दृष्टि से मानव का अर्थ है आत्मा और तीन शरीर। आत्मा अपने-आपमे ज्ञान, शक्ति और सुख-स्वरूप है। इसीको सच्चिदानन्द कहा जाता है। किन्तु बाह्य प्रभाव उसके स्वरूप को दबाये रहते है। हम जो भला-बुरा काम करते हैं या मन मे विचार लाते है, वे अपने सस्कार आत्मा पर छोड जाते हैं। इन्हीको कर्म कहा जाता है। वह सस्कार समय-समय पर जाग्रत होकर अपना फल देते रहते है। उन्ही की जागृति सूक्ष्म शरीर है और स्थूल शरीर उस फल को भोगने का स्थान है। व्यक्तित्व के विकास का अर्थ है—बाह्य प्रभाव को घटाते हुए आन्तरिक स्वरूप की अभिव्यक्ति करना। ज्यो-ज्यो यह अभिव्यक्ति होती है, मानव ऊपर उठता जाता है। इसीको वेदान्त मे 'पचकोश-विवेक' कहा गया है। जो प्राणी स्थूल-शरीर या अन्नमय कोश से अभिभूत है, वह विकास की निम्नतम अवस्था मे है। उससे विकसित अवस्था उन प्राणियो की है, जो प्राणमयकोश के अधीन है। यह अवस्था निम्न श्रेणी के पशुओ मे होती है, जिन्हे जैन-दर्शन मे 'असज्ञी' कहा गया है। साधारण मनुष्य तथा वडे पशुओ मे मनोमय-कोश काम करता है। इसके फलस्वरूप, विविध प्रकार की इच्छाए उत्पन्न होती रहती हैं। जैन-दर्शन ने इनका विभाजन चार सज्ञाओ मे किया है। विचारशील मनुष्यो मे विज्ञानमय-कोश या बुद्धि काम करती है। वह भले-बुरे परिणाम को सोचकर चलते है, और उसके लिए तात्कालिक इच्छा की उपेक्षा कर देते है। किन्तु उनमे भी 'स्व' और 'पर' का भेद रहता है। 'स्व' के सुख से आनन्दित होते है और 'पर' के सुख से ईर्ष्या करते है। इसका मूल कारण जमे हुए अस्मिता के सस्कार है, जो पाचवा कोश है। मानव और मानव मे भेद का कारण यही पाच कोश है। व्यक्ति ज्यो-ज्यो इनसे ऊपर उठता है,

समता या अभेद की ओर बढता चला जाता है ।

कठोपनिषद तथा भगवदगीता में हमारे व्यक्तित्व की उपमा एक रथ से दी गई है । आत्मा रथ का मालिक है, शरीर रथ है, बुद्धि अर्थात विचार-शक्ति सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिया घोडे हैं और भोग्य वस्तुए उनके दौडने का मैदान है । घोडे लगाम के सकेत पर चलते है । यदि लगाम सारथी के हाथ मे है तो घोडे ठीक रास्ते पर चलेंगे । यदि वह हाथ से छूट गई तो मनमानी दौड लगायगे और रथ टूट जायगा । अत , मन-रूपी लगाम, बुद्धि-रूपी सारथी के हाथ मे रहनी चाहिए । यही व्यक्तित्व का माप-दण्ड है । लगाम पर सारथी का जितना नियत्रण होगा, व्यक्तित्व उतना ही ऊचा होगा ।

जैन-दर्शन मे मानव का विश्लेषण कई प्रकार से किया गया है । वहा पाच शरीर माने गये है । उनमे से दो योग-शक्ति के फल है । वे सर्वसाधारण मे नही होते । शेष तीन शरीरो का निर्देश ऊपर आ चुका है । दूसरा विश्लेषण आठ वर्गनाओ के रूप मे है । इसका अर्थ है—जड-परमाणुओ के वे प्रकार, जो हमारे व्यक्तित्व के घटक है । पाच शरीरो का निर्माण करनेवाली पाच वर्गनाए है । इनके अतिरिक्त तीन और है, जो वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास का निर्माण करती है । तीसरा विश्लेषण दस प्राणो के रूप मे किया गया है । वे है—पाच ज्ञानेन्द्रिया, मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास और आयु । यहा समस्त प्राणियो को चार गतियो में विभक्त किया गया है । उनमे से नरक-गति दुख भोगने के लिए है और देवगति सुख भोगने के लिए । त्रियच गति मे चेतना के विकास की सभी श्रेणिया बताई गई है । वहां भी कर्तृत्व की अपेक्षा योग की प्रधानता रहती है । पशु जो कर्म करता है, प्राय उसके लिए स्वय उत्तरदायी नही होता । मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जहा एक ओर चेतना-शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाता है, और दूसरी ओर कर्तृत्व शक्ति बढ जाती है । मानवता का अर्थ है—अपने-आप सोचकर कार्य करने की सामर्थ्य । उसके कर्तृत्व अथवा विचार-शक्ति पर जितना नियन्त्रण होगा, उतना ही वह मनुष्यता से गिरकर पशु की भूमिका पर आ जायगा । लोकतन्त्र मनुष्य को मनुष्य के रूप मे देखना

चाहता है। जैन-दृष्टि से मानव-विकास का अर्थ है आत्माकी अभिव्यक्ति। उसका स्वरूप चार अनन्तो के रूप मे प्रकट किया जाता है— अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य। वेदान्त मे इन्ही चार को 'सत्' और 'आनन्द' के रूप मे प्रकट किया जाता है, जोकि पर-ब्रह्म या परमात्मा का वास्तविक रूप है। सत् का अर्थ है शक्ति तथा चित् का अर्थ है ज्ञान। जैन-दर्शन मे इसके दो विभाग किये गए है, निराकार और साकार। निराकार ज्ञान को दर्शन शब्द से प्रकट किया गया है।

बौद्ध धर्म मे व्यक्तित्व का विश्लेपण पाच स्कन्धो के रूप मे किया गया है—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान। इनमे से रूप-स्कन्ध जड-शरीर को प्रकट करता है। वेदना का अर्थ है सुख और दुख की अनुभूतिया, सज्ञा का अर्थ है ज्ञान, सस्कार का अर्थ है पुराने अनुभवो के अवशेष, और विज्ञान का अर्थ है चेतना। इनमे से विज्ञान और रूप को क्रमश आत्मा और शरीर के स्थान पर रखा जा सकता है। शेष तीन उनके परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होते है। वह कुशल तथा अकुशल सुखरूप तथा दुखरूप अनेक प्रकार के होते है। वही हमारे व्यक्तित्व के नियामक है।

भारतीय विचारक मानव को ऐसा तत्त्व नही मानते, जो पहले अचेतन रहा हो और विकास करते हुए चेतन बन गया हो। यहा वह जड से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है। अनादि काल से वह चेतन है और अनन्त काल तक रहेगा।

मानवता का लक्ष्य

साधारण व्यवहार मे शक्ति का अर्थ है अपनी इच्छा को पूर्ण करने की सामर्थ्य। वहा इस बात का विचार नही किया जाता कि इस सामर्थ्य के लिए हमे दूसरे पर कितना निर्भर रहना होता है। राजा अपनी सैनिक शक्ति के द्वारा शत्रु या प्रजा पर मनमानी कर सकता है। धनवान सम्पत्ति के बल पर अपनी इच्छाओ को पूर्ण कर सकता है। किन्तु यहा एक प्रश्न होता है। क्या यह शक्ति उसकी अपनी है? क्या इसे प्राप्त करने के लिए उसे दूसरो पर निर्भर नही होना पडता?

क्या दूसरे पर निर्भर रहना अपने-आप मे निर्बलता नही है ? दार्शनिकों ने इन बातो पर विचार किया और इस निर्णय पर पहुचे कि सच्ची शक्ति वही है, जहा व्यक्ति को दूसरे पर निर्भर नही रहना पड़ता। आत्मनिर्भरता की पूर्णता भौतिक जीवन मे नही हो सकती। जबतक शरीर है, दूसरो का सहारा लेना पडेगा। वह अवस्था मोक्ष मे ही प्राप्त हो सकती है। भौतिक जीवन मे उस ओर बढने का प्रयास किया जाता है। साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्ति ज्यो-ज्यो उस ओर बढ़ता है, उसके सुख और शक्ति की वृद्धि होती जाती है।

दार्शनिको ने यह भी देखा कि भौतिक शक्ति विषमता की ओर ले जाती है। उसके द्वारा सभी व्यक्ति एक-सा सुख नही प्राप्त कर सकते। एक का सचय दूसरे के अपहरण पर अवलम्बित है। वहा शोषक और शोषित, भयोत्पादक और भयभीत, त्रासक और सत्रस्त का होना अनिवार्य है। निर्भयता और समता के लिए ऐसी भूमिका पर पहुचना आवश्यक है, जो सभी के लिए सुलभ हो, जिसकी प्राप्ति के लिए दूसरे के उत्पीडन की आवश्यकता न हो। इसीका नाम आध्यात्मिक-शक्ति है। उपनिषदो के शब्दो मे इसका अर्थ है असत् से सत् की प्राप्ति। जैन-दर्शन मे इसी का नाम अनन्त-वीर्य है, जहा न परावलम्बन है और न परशोषण। राजनैतिक क्षेत्र मे इसका अर्थ है, ऐसा राष्ट्र, जिसे न दूसरे के सहारे की आवश्यकता है और जो न दूसरे का शोषण करना चाहता है। आर्थिक शक्ति का भी यही अर्थ करना होगा, अर्थात ऐसा समाज, जहा एक को अपने भरणपोषण के लिए दूसरे पर निर्भर रहने की आवश्यकता नही है, साथ ही जो दूसरे का उत्पीडन नही करता। इस व्याख्या के अनुसार राजनैतिक शक्ति का अर्थ राज्य का विस्तार नही है, इसी प्रकार आर्थिक शक्ति का अर्थ सम्पत्ति की अधिकता नही है। इस दृष्टि से उसी समाज को शक्तिशाली माना जायगा, जो आत्म-निर्भर है, साथ ही दूसरे का दमन नही करता। जिस समाज मे एक पदाक्रान्त है और दूसरा शासक, एक उच्च है और दूसरा नीच, एक मालिक है और दूसरा गुलाम, वह शक्तिशाली समाज नही है। इसी प्रकार, जहा रूढिया, अंधविश्वास, वर्ण-भेद आदि घर किये हुए हैं, वह

भी शक्तिशाली समाज नही है।

परमात्मा का दूसरा तत्त्व आनन्द या सुख है। यहा भी वही बात है। भारतीय दर्शन ऐसे सुख को सुख नही मानते, जहा परावलम्बन है, वहा सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है, जिसे सभी प्राप्त कर सकते।

तीसरा तत्त्वज्ञान है। इसका अर्थ है आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान, जिसके लिए किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नही है।

भारतीय दर्शन ज्ञान, सुख और शक्ति की इस अभिव्यक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानते है। लोकतन्त्र के सामने भी यही लक्ष्य है। वह ऐसी शक्ति का विकास करना चाहता है, जो दूसरे के विकास तथा हलचल मे बाधा नही डालती, साथ ही जिसे सभी प्राप्त कर सकते है। वह ऐसे सुख को प्राप्त करना चाहता है जो दूसरे के उत्पीडन पर अवलम्बित नही है। साथ ही ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जो व्यक्ति को स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी बनाये।

व्यक्तित्व का दमन करनेवाले तत्त्वो को दार्शनिको ने मोह, अविद्या, तृष्णा, क्लेश, अज्ञान, सकलेश आदि शब्दो द्वारा प्रकट किया है। उनका प्रभाव जैसे-जैसे कम होता है, मानव ऊचा उठता जाता है।

सभी धर्मों ने मानव का विश्लेषण दो प्रकार से किया है—बाह्य मानव और आन्तर मानव। आन्तर मानव की भूमिका पर मानव और मानव मे किसी प्रकार का भेद नही रहता। वेदान्त के अनुसार वहा पहुचकर सभी एक हो जाते हैं। जैन-दर्शन का कथन है कि एक न होकर एक-से होजाते हैं। उनमे किसी प्रकार की विषमता नही रहती। उस पद पर पहुचना ही हमारी यात्रा का चरम-लक्ष्य है।

जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक प्राणी मे चार सज्ञाए या स्वाभाविक वृत्तिया होती हैं—

१ आहार-सज्ञा खाने-पीने की इच्छा।

२ भय-सज्ञा . प्रतिकूल परिस्थति से बचने की इच्छा।

३. मैथुन-सज्ञा कामवासना।

४ परिग्रह-संज्ञा . सचय करने की इच्छा।

किसी प्राणी मे कोई सज्ञा बलवती होती है और किसी मे कोई, मनुष्य अपवाद नही है। उसमे भी यह चारो वृत्तिया स्वाभाविक रूप से पाई जाती है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के नाते उसमे कुछ विशेषता भी है। वाह्य-जगत से भी परे एक ऐसा तत्त्व है, जिसके सकेत पर जीवन का सचालन होता है। उसे आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि नामो द्वारा प्रकट किया जाता है। मनुष्य उस तत्त्व और प्राणी-जगत के बीच की कडी है। उसे अनुभव होने लगता है कि दृश्यमान जगत के वीच कोई अदृश्य सत्ता है और वह उसे जानना चाहता है। यही से मनुष्यता या मानवता का प्रारम्भ होता है।

जैन-दर्शन मे विषमता के कारणो को पाच श्रेणियो मे विभक्त किया गया है—

१ मिथ्यात्व : इसका अर्थ है झूठा विश्वास। मनुष्य अपने असली रूप को छोडकर राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, धन-सम्पत्ति आदि वाह्य तत्त्वो को महत्त्व देने लगता है, उनके लिए मानवता की उपेक्षा करने लगता है। यह सब मिथ्यात्व है।

२. अविरति : अनुशासन-हीनता। लक्ष्य की ओर वढने के लिए जीवन मे अनुशासन होना आवश्यक है। मर्यादाहीन जीवन समुद्र मे पडी हुई लकडी के समान है, जो एक तरग आने पर इधर वहने लगती है, दूसरी तरग आने पर उधर। ऐसी लकडी लक्ष्य पर नही पहुचा सकती, और लक्ष्यगामी वनाने के लिए उसे नौका का रूप देना आवश्यक है। इसका अर्थ है, उसकी गति पर पतवार, मस्तूल, चप्पू आदि का नियत्रण। इसी प्रकार उच्छृङ्खल जीवन लक्ष्य पर नही पहुचा सकता। इसके लिए उस पर व्रतो एव नियमो का अनुशासन आवश्यक है। हमारी दिनचर्या तथा जीवन ऐसा होना चाहिए, जो विपमता मे समता की ओर ले जाय। समता की इस आराधना को जैन दर्शन मे 'सामायिक' कहा जाता है, जो साधु का जीवन-व्रत है। गृहस्थ उसका अनुष्ठान यथाशक्ति करता है।

३. प्रमाद : इसका अर्थ है असावधानी या आलस्य। जीवन मे अनुशासन लाने के लिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। साथ ही

उन बातो से दूर रहने की आवश्यकता है जो उसे उच्छृङ्खल, अनुशासन-हीन तथा आलसी बनाती है। उदाहरण के रूप मे मादक वस्तुओ का सेवन, मोहक, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की ओर झुकाव, स्त्री, भोजन आदि व्यर्थ की बातो मे समय नष्ट करना इत्यादि।

४ कषाय : मानसिक आवेगो से अभिभूत होना। मनुष्य को शान्त, नम्र, सरल तथा सन्तोषी होना चाहिए। इसके लिए क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतने की आवश्यकता है। ये ही चार कषाय माने जाते है। मानव इन पर जैसे-जैसे विजय प्राप्त करता है, ऊचा उठता जाता है। पूर्ण विजय होने पर परम-मानव या परमात्मा बन जाता है।

५ योग इसका अर्थ है मन, वचन और शरीर की चचलता। इसे दूर करने के दो रूप है। पहला रूप है अशुभ या बुरी प्रवृत्तियो को छोड कर उन्हे शुभ या अच्छी प्रवृत्तियो मे लगाना। मन मे दूसरो की बुराई के स्थान पर भलाई सोचना। कटु तथा हानिकारक वचन छोड कर मधुर तथा हितकारी वचन बोलना। शरीर द्वारा दूसरे को कष्ट या हानि पहुचाने के स्थान पर सुख पहुचाना। दूसरा रूप है इन प्रवृत्तियो को रोकने का अभ्यास करना। जीवन को ऊचा उठाने के लिए यथा-शक्य दोनो का अभ्यास करना चाहिए।

मानवता का लक्ष्य निश्चित कर लेने पर हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है ? मानव चिरतन काल से उसकी खोज मे लगा है और सघर्ष भी कर रहा है। इस सघर्ष मे उसने बहुत-कुछ प्राप्त किया और खोजा भी। नये-नये अनुभवो के आधार पर सत्य की खोज की और पथभ्रष्ट भी हुआ।

सर्वप्रथम हमारे सामने वैदिक मानव का चित्र आता है। उसके दो रूप है। प्रथम रूप ऋग्वेद या मन्त्रकाल मे मिलता है। उसने जीवन की समस्याए सुलझाने के लिए जगल काट डाने, वन्य पशुओ को मार भगाया, वर्षा तथा सर्दी से बचने के लिए झोपडिया बनाई। भोजन प्राप्त करने के लिए खेती प्रारम्भ की, फिर भी प्रकृति पर पूरा नियन्त्रण नही हुआ। अतिवृष्टि, अनावृष्टि दावानल, वन्य तथा विषैले प्राणी और मानवीय शत्रु भय का कारण बने रहे। जब उसने देखा कि उन पर

विजय प्राप्तकरने के लिए निजी शक्ति पर्याप्त नही है तो अतीन्द्रिय शक्तियो की कल्पना की। यही से देवतावाद का प्रारम्भ हुआ और मनुष्य अपने को किसी अतीन्द्रिय शक्ति के सामने निर्बल मानने लगा। जीवन की आवश्यकताए पूर्ण करने के लिए उसके सामने प्रार्थना करने लगा, उसे प्रसन्न करने के लिए गिडगिडाने और पूजा-पाठ करने लगा। उसने समझा कि विविध प्रकार के भय उसी अतीन्द्रिय शक्ति का फल है। उसे सतुष्ट एव शान्त करने के लिए मनौतिया करने लगा।

क्रमश, एक ऐसा वर्ग खडा हो गया, जो अपने को उन शक्तियो का प्रतिनिधि वताने लगा। उसने दावा किया कि वह उन रहस्यो को जानता है, जिनसे वह शक्तिया प्रसन्न होती है। राज्य, सतान, आरोग्य, धन या अन्य किसी बात की आकाक्षा हो, किसी सकट से दूर होना हो, प्रत्येक वात उनकी कृपा से प्राप्त हो सकती है और कृपा प्राप्त करने का उपाय हमारे पास है। इस प्रकार वौद्धिक दृष्टि से एक मानव दूसरे मानव पर हावी हो गया, यह चित्र यजुर्वेद या ब्राह्मणो मे मिलता है।

धीरे-धीरे मानव ने कर्म की महत्ता को समझा। उसने यह अनुभव किया कि कर्म ही भविष्य का निर्माता है। अतीन्द्रिय शक्तिया उसी के अनुसार फल देती है। इस प्रकार उनकी दासता से तो मुक्ति प्राप्त की, किन्तु यह निर्णय न कर सका कि भला कर्म कौन-सा है और बुरा कौन-सा। इसका निर्णय वर्ग-विशेष के हाथ मे रहा और वौद्धिक पराधीनता चलती रही।

सहयोग द्वारा समस्याओ का समाधान करने के लिए समाज की रचना हुई और उसीका शारीरिक एव मानसिक योग्यता की दृष्टि से विभाजन किया गया। बुद्धिजीवी, शस्त्रजीवी, कृषि-गोपालन-जीवी तथा सेवा-जीवी के रूप मे चार वर्ग बनाये गए, किन्तु यही विभाजन वर्ण-व्यवस्था का रूप लेकर विषमता का पोषण करने लगा। एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को मानवोचित अधिकारो से वचित कर दिया।

इस प्रकार मानव दो तत्त्वो से दव गया। एक ओर वह कर्म-काण्ड था, जो समझ न आने पर भी उसकी बुद्धि पर लादा जा रहा था। प्रत्येक निर्णय के लिए वेद को सर्वोच्च सत्ता मान लिया गया और उससे

प्रतिकूल सोचनेवाले को दण्डित किया जाने लगा। इतना ही नही, वेदो की व्याख्या भी वर्ग-विशेष के हाथ मे आ गई और सर्वसाधारण को इस विषय मे बोलने का अधिकार नही रहा। दूसरी ओर शूद्र वर्ण तथा-कथित उच्चवर्ण की भोग-सामग्री बन गया। उसका एकमात्र धर्म या उच्चवर्ण की सेवा और उसके द्वारा उच्छिष्ट भोजन एव वस्त्र पर निर्वाह।

इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे एक ओर उपनिषदो की रचना हुई, जहा ब्राह्मणेतर वर्ग ब्राह्मणो का गुरु बन गया। यज्ञसस्था और वर्ण-व्यवस्था को महत्त्वहीन बता कर सर्वसाधारण का ध्यान उस उच्च लक्ष्य की ओर आकृष्ट किया गया, जहा सब एक है, किसी प्रकार का भेद नही है।

किन्तु अभेद का यह उपदेश वन मे रहनेवाले कुछ साधनो के चिन्तन तक सीमित रह गया, सामाजिक जीवन मे नही उतर सका। वहा कर्म-काण्ड और वर्ण-भेद का प्रभुत्व बना रहा। बुद्धिजीवी-वर्ग ने जीवन को दो लक्ष्यो मे विभक्त कर दिया। समता या एकता का लक्ष्य उच्च होने पर भी उन लोगो के लिए सीमित हो गया, जिनकी भौतिक आकाक्षाए शान्त हो चुकी है। उनके लिए सामाजिक जीवन की आवश्यकता न रही। दूसरी ओर सामाजिक जीवन मे, जहा महत्त्वाकाक्षाए बनी हुई है, यज्ञ या कर्म-काण्ड की प्रधानता रही। मरने के बाद भी वहा स्वर्ग-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया, जहा चिर-यौवन, अप्सराए और सभी प्रकार के भोग प्राप्त होते है।

जैन और बौद्ध धर्म ने बौद्धिक दासता और वर्ण-वैषम्य दोनो पर सीधा आक्रमण किया। उन्होने वेद की सर्वोच्च सत्ता का विरोध किया, यज्ञ मे होनेवाली हिसा को भी पाप बताया और मनुष्य और मनुष्य के बीच किये जानेवाले जन्म-कृत भेद को समाप्त कर दिया। उन्होने भी कर्म-व्यवस्था को स्वीकार किया, किन्तु यहा कर्म का अर्थ वेद की आज्ञा नही रहा। शुभ और अशुभ कर्म का निर्णय नैतिकता या समता के आधार पर किया गया। इसका अर्थ है, जो व्यवहार तुम अपने लिए बुरा समझते हो उसे दूसरे के लिए भी बुरा समझो। यदि कोई तुम्हे मारता है, गाली देता है, झूठ बोलकर धोखा देता है, तुम्हारी

वस्तु चुराता है या अधिक संग्रह करता है तो तुम्हे बुरा लगता है। इसी प्रकार यदि ऐसा व्यवहार तुम करोगे तो दूसरे को बुरा लगेगा। यह धार्मिक लोकतन्त्र की ओर पहला कदम था, जहा मनुष्य ने बौद्धिक गुलामी को चुनौती दी और भले-बुरे का निर्णय अपने हाथ मे ले लिया।

दूसरा कदम सामाजिक विषमता हटाने के रूप मे हुआ। उसमे उन्होने बताया कि जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है न शूद्र, न बडा, न छोटा। व्यक्ति अपने गुणो के कारण ऊचा उठता है, गिरना या ऊपर उठना, स्वय उसके हाथ मे है, कोई सामाजिक मर्यादा या अतीन्द्रिय शक्ति उसे उच्च या नीच नही बना सकती।

तीसरा कदम देवताओ की गुलामी से छुटकारा है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ को सर्वोपरि मानने लगा। अपने भविष्य का निर्माता स्वय बन गया। महावीर ने कहा—पुरुषो, तुम्ही अपने मित्र हो। उसे बाहर क्यो खोज रहे हो। तुम स्वय अपने उद्धारक हो। जो व्यक्ति सदाचारी है, वह देवताओ की गुलामी नही करता, प्रत्युत देवता उसके चरणो मे आकर गिरते है। इस प्रकार हम देखते है कि ई० पू० छठी शताब्दी मे धार्मिक लोकतन्त्र का रूप हमारे सामने आ चुका था, जहा मनुष्य सर्वोपरि था और वह अपने भाग्य का स्वय निर्माता था। परस्पर सहयोग द्वारा विकास करने के लिए धर्म-सघो की स्थापना की गई, जहा नियन्त्रण की अपेक्षा मार्ग-दर्शन को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इन सघो का प्रभाव राजनीति और समाज पर भी पडा। वैशाली गणतन्त्र की स्थापना इसी का प्रभाव है।

महावीर और बुद्ध के पश्चात अढाई हजार वर्ष का धार्मिक इतिहास दोनो विचारो को लिये हुए है। एक ओर वे परम्पराए है, जहा अतीन्द्रिय सत्ता सर्वश्रेष्ठ है और मानव उसके हाथ की कठपुतली है। दूसरी ओर वे है, जो मानव को ही ईश्वर या परमात्मा मानती हैं। जो विचारधाराए मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर खडी हुई, उनमे भी बहुत-से दूसरे तत्त्व मिल गए। उदाहरण के रूप मे, बौद्धो की महायान परम्परा को उपस्थित किया जा सकता है। पाचसौ वर्षो तक बुद्ध एक मानव थे। उन्होने अपने-आप मे मानवीय गुणो का विकास किया

और उन्ही के विकास का दूसरो को उपदेश दिया । मानव-बुद्धि पर कोई बात अपनी ओर से लादने की कोशिश नही की । उनका सन्देश था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना दीपक स्वय बनना चाहिए । अपने द्वारा प्रतिपादित जीवन-पद्धति के लिए भी उनका आह्वान था कि आओ और परीक्षा करो । भिक्षुओ से उन्होने कहा—हे भिक्षुओ, मेरे वचन को भी परीक्षा करके ग्रहण करना, मेरे प्रति आदर-बुद्धि के कारण नही ।

धीरे-धीरे साधना के स्थान पर विचार का लक्ष्य बढता गया । बुद्ध मानव के स्थान पर अतिमानव हो गए । उनके जीवन के साथ अनेक प्रकार के चमत्कार और अतिमानवीय शक्तिया जोड दी गई । उन्हे उद्धारक मान लिया गया और भक्ति पर बल दिया जाने लगा । प्रारभ मे उपासना का लक्ष्य था, उन्हे आदर्श मानना और उन्होने अपने उपदेशो तथा जीवन द्वारा जिस मार्ग का उपदेश दिया था, उस पर चलकर जीवन का विकास करना , अब उसका लक्ष्य होगया उनकी कृपा प्राप्त करना ।

जैन-धर्म मे उतना परिवर्तन नही आया, फिर भी महावीर तथा अन्य तीर्थङ्करो को अतिमानव का रूप तो मिल ही गया । उनके जीवन के साथ अनेक प्रकार के अतिशय जोड दिये गए । साथ ही यह माना गया कि अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रत्येक व्यक्ति उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है । उनके अनेक प्रकार के स्तोत्र रचे गए, जिनके पाठ द्वारा धन, सतान, रोग-निवारण आदि कामनाओ का पूर्ण होना माना जाने लगा । बौद्ध और जैन-दर्शन ने सैद्धान्तिक दृष्टि से जीवात्मा को ही परमात्मा माना, किन्तु व्यवहार मे दूसरे तत्त्वो का भी सम्मिश्रण हो गया ।

मानवता की भूमिकाएं

मानव-वश-विज्ञान ने मनुष्य का विभाजन मुखाकृति के आधार पर किया है । किसी का मुख चौडा होता है, किसी का लबा और किसी का गोल । इसी आधार पर चरित्र और स्वभाव का वर्गीकरण भी किया जाता है ।

मनोविज्ञान ने व्यक्तियो का विभाजन तीन कोटियो मे किया है—

१ बुद्धिवादी, २ सवेदनशील तथा ३ स्वेच्छाचारी ।

प्रत्येक के पुन अनेक प्रकार है—सकोचशील, क्रोधी, प्रतिक्रियाशील अड़ियल, दुर्बल, अस्थिरचित्त, अशान्त, विचारशील, सयत, सदाचारी ।

बुद्धिवादियो मे भी अनेक वर्ग हैं—

१ उदार : भिन्न विचारो के प्रति सहानुभूति रखनेवाला, जो विविध स्रोतो से ज्ञान प्राप्त करके अपनी धारणाओ को बनाता है । अपने मत का आग्रह नही करता ।

२ अनुदार जो अनेक विषयो पर ध्यान देना पसन्द नही करता, अपनी बात को अच्छी तरह जानता है और उस पर दृढ रहता है ।

बुद्धि अधिकतर विश्लेषण और सूक्ष्मता की ओर बढती है, समन्वय या विस्तार की ओर नही । इसी प्रकार एक ओर तार्किक है जो प्रत्येक तर्कसगत बात को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं । साथ ही वह यह भी मानते है कि ऐसी कोई बात नही है, जो उनकी बुद्धि से परे हो । दूसरी ओर वह श्रद्धालु है, जो जमी हुई धारणा को बदलना पसद नही करते । अधिकतर महापुरुष इसी वर्ग मे आते हैं । बुद्धिवादी और सवेदनशील के मिश्रण से भी अनेक प्रकार बनते है । बुद्धिवादी भावुक, दृढ-निश्चयी तथा साहसी हो सकता है और हृदयहीन, अस्थिरचित्त तथा कायर भी हो सकता है । आध्यात्मिक साधना मे लगे हुए भक्त, योगी तथा ज्ञानी एक भिन्न श्रेणी मे आते है । वर्गीकरण का एक और प्रकार है :—

सदाचारी . सामाजिक आचार तथा लोक-व्यवहार का ध्यान रखनेवाला ।

रसिक या कलाप्रेमी : नृत्य, सगीत आदि कलाओ के उपासक और उनके लिए नैतिकता को गौण समझनेवाले ।

धर्मात्मा : सासारिक स्वार्थों से विरक्त होकर ईश्वर या आत्मा के चिन्तन मे लीन रहनेवाले ।

इन तीनो के सम्मिश्रण से अनेक नये प्रकार बन जाते है । इस वर्गीकरण से पता चलता है कि मानव-स्वभाव मे कितनी विविधता है । ऐसी स्थिति मे मनोविज्ञान के आधार पर निर्मित किसी सिद्धान्त को अतिम

समझना ठीक नही है।

मनोविज्ञान के आचार्य जुग ने यह विभाजन दो वृत्तियो मे किया है। कुछ व्यक्तियो का झुकाव बाह्य वस्तुओ की ओर होता है और कुछ का अन्दर की ओर। फलस्वरूप कुछ लोभी होते है और कुछ सन्तोषी, कुछ महत्त्वाकाक्षाओ को लेकर सघर्ष करते रहते है और कुछ अनायास प्राप्त हुई वस्तु मे तृप्त होकर शाति-पूर्वक बैठना पसन्द करते हैं।

फ्रायड ने मस्तिष्क के आधार पर मनुष्य को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया —

१ साधारण (Normal)
२ विकृत (Abnormal)
३ विशिष्ट (Supernormal)

इन तीनो के विकास के लिए अचेतन, पूर्वचेतन और चेतन मन की कल्पना की। उसका कथन है कि साधारण व्यक्तियो का विकास करने के लिए भावना या सस्कारो के रूप मे सुप्त अचेतन मन पर ध्यान देना चाहिए। जिन व्यक्तियो का मस्तिष्क विकृत है, अर्थात जो सर्वसाधारण से भिन्न प्रकार के हैं, जिन्हे चोरी, डकैती, हिंसा, दुराचार आदि मे आनन्द आता है, उनके पिछले मनोभावो का अध्ययन करना आवश्यक है। जो व्यक्ति प्रतिभा-सम्पन्न, तेजस्वी तथा साहसी है, उनपर चेतन मन का असर होता है। किन्तु यह विभाजन भी सर्वत्र उपयोगी सिद्ध नही हुआ।

कामसूत्र ने शरीर की बनावट के आधार पर व्यक्तित्व का विभाजन किया है। उसका मुख्य लक्ष्य स्त्री और पुरुष का परस्पर सम्बन्ध है। जीवन-व्यवहार के लिए व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय साधारणतया शरीर-रचना की ओर ध्यान नही दिया जाता। वहा इच्छा, ज्ञान आदि आन्तरिक वृत्तियो का ही विचार किया जाता है। साधारणतया व्यक्तित्व का वर्गीकरण काम या इच्छा-शक्ति के आधार पर किया जाता है। इसके दो रूप है—१ राग और २ द्वेष। इन्ही को लेकर व्यक्तित्व के अनेक रूप बन जाते है। एक व्यक्ति अन्तर्मुख होता है और दूसरा बहिर्मुख। एक एकान्त को पसन्द करता है, दूसरा समाज को।

एक छिपा रहना चाहता है, दूसरा अपना प्रदर्शन चाहता है। एक अपने घृणा और प्रेम को अपने ही अन्दर लिये रहता है, दूसरा उनकी अभिव्यक्ति करना चाहता है।

स्वभाव मे इस विविधता के लिए दर्शनकारो ने विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये है। साख्य-दर्शन ने इसके लिए सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप मे तीन गुण माने है। सत्त्व ज्ञान एव प्रकाश रूप है। उसकी प्रधानता होने पर मनुष्य बुद्धिमान, विवेकी तथा विचारशील होता है, वह भावनाओ के आवेग मे नही बहता। दूसरो के प्रति उसका व्यवहार समतापूर्ण होता है। रजोगुण वाला व्यक्ति कामुक तथा अहकारी होता है। दूसरे के प्रति उसका व्यवहार राग या द्वेष को लिये रहता है। तमोगुणवाला आलसी तथा अज्ञानी होता है। उसके मन मे हीन भावना जमी रहती है। रजोगुण और तमोगुण-वाले व्यक्तियो मे लोकतन्त्रीय भावना नही पनपती। वह ज्यो-ज्यो सत्त्व की ओर बढते है, समता अर्थात लोकतन्त्रीय भावना का विकास होता चला जाता है।

इन गुणो के प्रभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे के साथ व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उसे स्थूल रूप से दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है

१ राग और द्वेप के उत्कट होने पर उसी प्रकार के दूसरे व्यक्ति के साथ किया जानेवाला व्यवहार। दूसरे व्यक्ति के उत्कृष्ट, समान या हीन होने पर यह व्यवहार भी वदलता रहता है।

२ जिन व्यक्तियो मे राग या द्वेप की मात्रा तीव्र नही है, वह उसी प्रकार के व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय अपना ही दूसरा रूप प्रकट करते है।

सत्त्व-प्रधान, स्वार्थहीन, निवृत्ति-प्रिय तथा प्रेमी स्वभाव-वाला व्यक्ति अपने सदृश व्यक्ति के प्रति नीचे लिखे अनुसार व्यवहार करेगा

१ (क) यदि वह दूसरे व्यक्तियो से वडा है और वे उसके प्रति नम्रता तथा भय की भावना लिये हुए हैं तो वह उदार रहेगा।

(ख) यदि वह दूसरो के समान है और वे नम्रता एव भय की भावना लिये हुए हं, तो उसका व्यवहार मित्रतापूर्ण होगा।

(ग) यदि वह दूसरो से छोटा है, तो उसका व्यवहार नम्रतापूर्ण होगा ।

२ (क) यदि वह दूसरो से बडा है और वे क्रोधी, अज्ञानी या आलसी है तो उसका व्यवहार दयापूर्ण होगा ।

(ख) यदि दूसरे उसके समान है और वे क्रोधी, अज्ञानी या आलसी हैं तो उसका व्यवहार प्रेमपूर्ण होगा ।

(ग) यदि दूसरे उससे छोटे है और क्रोधी, अज्ञानी या आलसी है तो उमका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होगा ।

३ (क) यदि वह दूसरो से बडा है और वे अहकारी है तो उसका व्यवहार नम्रतापूर्ण होगा ।

(ख) यदि वह दूसरो के समान है और वे अहकारी है तो उसका व्यवहार मित्रतापूर्ण होगा ।

(ग) यदि वह दूसरो से छोटा है और वे अहकारी है तो उसका व्यवहार दयापूर्ण होगा ।

तमस्-प्रधान, स्वार्थपूर्ण, प्रवृत्ति-प्रिय तथा घृणा-पूर्ण व्यवहार-वाला व्यक्ति अपने सदृश व्यक्ति के प्रति नीचे लिखे अनुसार व्यवहार करेगा

(क) यदि वह दूसरो से वडा है और वे प्रेम या भय की भावना लिये हुए हैं तो वह द्वेप-पूर्ण व्यवहार करेगा ।

(ख) यदि वह दूसरो के समान है और वे प्रेम या भय की भावना लिये हुए हैं तो वह क्रोध-पूर्ण व्यवहार करेगा ।

(ग) यदि वह दूसरो से छोटा है और वे प्रेम या भय की भावना लिये हुए हैं तो वह भय (सदेह) पूर्ण व्यवहार करेगा ।

१ दूसरा वर्ग उन जीवो का है, जिनमे राग और द्वेप दोनो प्रकार के सस्कारो का सम्मिश्रण होता है । इनका झुकाव प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ओर होता है । उनका अपनी श्रेणी के जीवो के साथ नीचे लिखा व्यवहार होता है

(क) यदि वे दूसरो की अपेक्षा अपने को वडा अनुभव करते है और वह अविश्वास प्रकट कर रहा है, तो उनका व्यवहार गर्वपूर्ण होगा और यदि वह भय प्रकट कर रहा है, तो घृणापूर्ण ।

(ख) यदि वे अपने को दूसरे के समान समझते है तो उसके प्रेम की प्रतिक्रिया प्रेम के रूप मे होगी और क्रोध की क्रोध के रूप में।

(ग) यदि वे दूसरे को अपने से बडा समझते है और उसका व्यवहार गर्वपूर्ण है तो उसकी प्रतिक्रिया भय के रूप मे होगी, घृणा की प्रतिक्रिया घृणा के रूप मे होगी और अत्याचार की प्रतिशोध के रूप मे।

उपरोक्त विश्लेपण विष्णु भागवत् मे आया है।

धर्म शास्त्रो ने मानसिक एव सामाजिक तथ्यो को सामने रखकर विश्लेपण किया। मानसिक योग्यता के लिए सत्त्व, रजस और तमस तीन गुणो को सामने रखा। जो व्यक्ति, सत्त्व प्रधान थे, जिनकी बुद्धि निर्मल थी, उन्हे समाज की व्यवस्था का कार्य सौंपा गया। जो रजोगुणी थे, जिनमे शक्ति की प्रधानता थी, उन्हे रक्षा का कार्य सौंपा गया। जिनमें रजोगुण के साथ लोभ का सम्मिश्रण था, उन्हे समाज के भरण-पोषण का कार्य सौंपा गया और तमोगुणी व्यक्तियो को सेवा का। इसी आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की रचना हुई। किन्तु धीरे-धीरे इसने सामाजिक विपमता का रूप ले लिया। गुणो के स्थान पर जन्म को महत्त्व दिया जाने लगा। लोकतन्त्र गुणो के आधार पर कार्य-विभाजन को बुरा नही मानता। प्रत्युत उसे राष्ट्र संचालन के लिए आवश्यक समझता है, किन्तु उसका आधार जन्म या जाति नही होना चाहिए, साथ ही परस्पर घृणा की भावना भी नही रहनी चाहिए। गुणो को छोडकर जाति को महत्त्व देने का अर्थ है जाति की उपेक्षा।

श्रीमद्भागवत मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी मानव स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपो का प्रतिपादन किया गया है। वहा कहा गया है कि एक ही तत्त्व का सत्त्व गुणवाले ज्ञानी ब्रह्म के रूप मे उपासना करते है, रजोगुणवाले कर्म-प्रधान व्यक्ति परमात्मा के रूप मे और तमोगुणवाले भक्त भगवान के रूप मे। वहा भी मुख्य दृष्टि स्वाभाविक योग्यता की है, ऊच-नीच की नही।

चरक ने बुद्धि और शरीर के आधार पर मनुष्य के अनेक प्रकार बताये हैं और इस आधार पर चिकित्सा-विज्ञान का प्रतिपादन किया है। उसका वर्गीकरण मानव-प्रकृति मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका

कथन है कि मानव का अध्ययन केवल शरीर के आधार पर नही हो सकता। मन और आत्मा को जानना भी आवश्यक है, उन्हे जाने बिना चिकित्सक अपने कार्य मे सफल नही हो सकता। उसने जीवन की समस्त श्रेणियो को ध्यान मे रखकर अपनी रूप-रेखा बनाई है। भारतीय चिकित्सा शास्त्र का मत है कि मानव का स्वस्थ रूप वात, पित्त और कफ की साम्यावस्था है। रोग का अर्थ है, इनमे किसी प्रकार की विषमता। सस्कृत मे रोग को विकार कहा जाता है। इसका अर्थ है मनुष्य का अपने स्वभाव को छोड कर किसी अन्य रूप मे परिणत होना। स्वास्थ्य-लाभ का अर्थ है पुन अपने स्वरूप मे आना। चरक मे चिकित्सा के लिए भी मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक माना गया है। जो चिकित्सक ईर्ष्या, लोभ आदि मानसिक विकारो से घिरा हुआ है वह आरोग्य प्रदान नही कर सकता।

हमारी बुद्धि तीन गुणो से बनी है, सत्त्व, रज और तम। इनकी न्यूनाधिकता के कारण व्यक्तियो के स्वभाव मे भी अन्तर हो जाता है। जिस व्यक्ति मे सत्त्व की प्रधानता होती है, वह उदार, सत्य-निष्ठ तथा दूसरो का भला चाहनेवाला होता है। चरक के शब्दो मे वह कल्याणाश विशिष्ठ होता है। जिस व्यक्ति मे रजोगुण की प्रधानता होती है वह राग, द्वेष से अभिभूत रहता है, उमे रोषाशविशिष्ठ कहा जाता है। तमोगुण की प्रधानता होने पर व्यक्ति अज्ञान तथा आलस्य से अभिभूत रहता है, उसे मोहाश-विशिष्ठ कहा जाता है। चरक के वर्गीकरण मे उपरोक्त भेदो के साथ वश तथा माता-पिता को भी महत्त्व दिया गया है। गुणो का प्रभाव शरीर पर पडता है और शरीर का गुणो पर, उनकी न्यूनाधिकता तथा जन्म-गत सस्कारो के आधार पर मनुष्य के असख्य भेद हो जाते हैं।

चरक का वर्गीकरण

(क) नीचे लिखे वर्गों मे सत्त्व की प्रधानता होती है, उनके नाम देवो तथा गन्धर्वो के नाम पर रखे गए हैं :

१ ब्रह्म-सत्त्व बुद्धिमान और सदाचारी होता है। विज्ञान, दर्शन

तथा धर्म की ओर रुचि रखता है। कषाय तथा पाश्विक वृत्तियो से अभिभूत नही होता। सत्य-निष्ठ, सयमी और निष्पक्ष होता है।

२ आर्ष-सत्त्व सूक्ष्म-दर्शी, प्रभावशाली, प्रकृति के रहस्यो का ज्ञाता, धर्म-निष्ठ, अतिथि-प्रिय तथा सयमी होता है। कषाय तथा पाश्विक वृत्तियो से अभिभूत नही होता।

३ ऐन्द्र-सत्त्व : पराक्रमी, वलवान, परिश्रमी, दूरदर्शी, आकर्षक, मधुरभाषी तथा धर्म, अर्थ और काम तीनो के साधन मे लगा रहता है।

४ याम्य-सत्त्व : व्यावहारिक, शीघ्र-वुद्धि, पक्की लगनवाला, विघ्न-वाधाओ से अनभिभूत तथा तीव्र स्मरण-शक्तिवाला पाश्विक वेगो तथा वृत्तियो से अभिभूत नही होता।

५ वारुण सत्त्व : शान्त, साहसी, शुद्धिप्रिय, जल-क्रीडा मे रुचि रखनेवाला, कष्टो से न घवरानेवाला, क्रोध तथा प्रतिशोध मे विचार-शील और दूसरो का सहायक है।

६. कौवेर-सत्त्व . पारिवारिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक कर्त्तव्यो का पालन करनेवाला। गर्व तथा हर्ष की अभिव्यक्ति के लिए पात्रापात्र के विवेक से रहित। अपने अनुयायियो पर उनकी योग्यता के अनुसार कृपा या दण्ड-प्रयोग करता रहता है।

७ गान्धर्व-सत्त्व : कला-प्रेमी, नृत्य, गीत, कथानक, इतिहास तथा पुराण मे रुचि रखनेवाला। पुष्प, इत्र, धूप आदि सुगन्धित पदार्थो को पसन्द करनेवाला, रसिक तथा स्त्री-प्रेमी है।

(ख) नीचे लिखे वर्गो मे रजोगुण की प्रधानता होती है, उनके नाम असुरो तथा हिंसक पशुओ के आधार पर रखे गए है

१ असुर-सत्त्व . पहलवान अर्थात शारीरिक वलवाले, भयानक, पेटू, अहकारी तथा धन-लोलुप।

२ राक्षस-सत्त्व : क्रोधी स्वभाववाले, हिंसक, क्रूर, मासाहारी, ईर्ष्यालु, कठोर और आलसी है।

३ पैशाच-सत्त्व : निर्लज्ज, मलिन, कायर, डरावने तथा इन्द्रिय-लोलुप।

४. सार्प-सत्त्व : साधारणतया कायर, किन्तु क्रोध आने पर साहसी,

दूसरो की सलाह देने मे पटु, कठोर स्वभाववाले तथा इन्द्रियासक्त ।

५. प्रैत्य-सत्त्व भोजन-प्रिय, स्वभाव, आचार एव दूसरे के साथ व्यवहार मे मलिन, ईर्ष्यालु, असहिष्णु, विवेकहीन, लोभी तथा आलसी ।

६ शाकुन-सत्त्व . इन्द्रियासक्त, पेटू, चचल, निर्दय तथा अपव्ययी ।

(ग) नीचे लिखे वर्गों मे तम की प्रबलता होती है। उनके नाम छोटे-प्राणियो तथा वृक्षो के आधार पर रखे गए हैं

१ पाशव-सत्त्व गन्दे, नीच, भोजन, पान तथा इन्द्रिय-विषयो मे आसक्त, निद्रालु और घृणा स्वभाववाले ।

२ मात्स्य-सत्त्व कायर, मूर्ख, पेटू, अस्थिर, क्रोध एव काम के वशीभूत तथा यात्रा एव स्नान मे अधिक रुचिवाले ।

३ वानस्पत्य-सत्त्व वृक्षो के समान अपना जीवन व्यतीत करनेवाले, अकर्मण्य, भोजन-प्रिय तथा सर्वथा बुद्धिहीन ।

गीता मे निर्भयता, हृदयशुद्धि आदि गुणो को दैवी सपत बताया गया है । इनके विपरीत क्रोध, अहकार, यम, लोभ आदि को आसुरी सपद । इन सपत्तियो के आधार पर मनुष्य की दो श्रेणिया हो गई है । गीता मे सात्त्विक, राजम और तामस श्रद्धा के आधार पर भी मनुष्य का वर्गीकरण किया गया है । वहा कहा गया है

यो यच्छ्रद्धा स एव स. ।

अर्थात मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, उसी आधार पर उसे भला या बुरा कहा जा सकता है । जो भलाई मे विश्वास रखता है वह भला है और जो बुराई द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है वह बुरा है । तीन गुणो के अनुसार श्रद्धा के भी तीन प्रकार है—तामस, राजस और सात्त्विक ।

जैन धर्म मे विचारो की दृष्टि से मनुष्य का विभाजन छह लेश्याओ मे किया गया है । जो व्यक्ति अत्यन्त क्रूर विचारोवाला होता है, उसमे कृष्ण-लेश्या मानी जाती है । उससे अपेक्षाकृत न्यून क्रूरतावाली नील-लेश्या है । इसी प्रकार उत्तरोत्तर शुद्ध होते हुए क्रमश कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याए है । रगो की यह तरतमता उत्तरोत्तर शुद्धि की

श्रोर ले जाती है। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति विषमता से समता की श्रोर अग्रसर होता है। इसके लिए आम के पेड और छह व्यक्तियो का रूपक दिया जाता है। छह व्यक्ति कही जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने श्राम का पेड देखा। सभी की इच्छा खाने की हुई। कृष्ण-लेश्यावाले ने कहा—"आश्रो, पेड को काट डाले। सभी फल नीचे श्रा जायगे।" नील लेश्यावाले ने ऊपर से वडी-वडी डालियो को तोडने के लिए कहा। कापोत लेश्यावाले ने छोटी डालियो को, पीत लेश्यावाले ने वृक्ष को हिलाकर फल गिराने के लिए कहा, पद्म लेश्यावाले ने पके-पके फलो को तोडने के लिए और शुक्ल लेश्यावाले ने अपने-आप नीचे गिरे हुए पके फलो को खाने का प्रस्ताव रखा।

मानसिक वेगो की दृष्टि से जैन-धर्म मे पाच श्रेणिया वताई गई है

१ मिथ्यात्वी वह व्यक्ति जिस मे क्रोध, मान, माया तथा लोभ की उत्कट मात्रा होती है। वह विश्वास तथा चरित्र दोनो दृष्टियो से हीन है। जो व्यक्ति इस अवस्था को पार कर लेता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। साधारणतया यह माना जाता है कि जो व्यक्ति अपनी द्वेषभावना को एक वर्ष से अधिक समय तक टिकाए रखता है, वह मिथ्यात्वी है।

२ अविरत-सम्यग्दृष्टि . इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जिसकी दृष्टि तो ठीक है, लेकिन आचार-शुद्धि की ओर प्रवृत्त नही हुआ।

३. श्रावक : वह व्यक्ति जो व्रतो को आशिक रूप से स्वीकार करता है। उसके लिए कषायो की काल-मर्यादा चार महीने है, अर्थात जो व्यक्ति द्वेष-भावना चार महीने से अधिक टिकाए रखता है, उसे अपने-आपको श्रावक कहने का अधिकार नही है।

४ साधु : वह व्यक्ति जो अहिंसा आदि व्रतो को पूर्णतया अपनाता है। इसकी काल-मर्यादा पन्द्रह दिन की है। यहा क्रोध आदि की उपमा पानी मे खिंची लकीर से की जाती है। जिस प्रकार वह खींचने के साथ ही मिटती चली जाती है, उसी प्रकार साधु की द्वेष-भावना या क्रोध उत्पन्न होते ही शान्त हो जाता है।

५ केवली · यह अवस्था परम मानव की है, जहा मनोवेग पूर्णतया शात हो जाते है ।

जैन-दर्शन मे अन्य विभाजन बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप मे किया गया है । प्रथम अर्थात मिथ्यात्व की अवस्था बहिरात्मा है, जहा हमारा झुकाव बाह्य जगत की ओर रहता है । बीच की तीन अवस्थाए अन्तरात्मा की है, जहा साधक उत्तरोत्तर निजी रूप की ओर झुकता चला जाता है । उस रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर परमात्म-अवस्था प्राप्त होती है । इन अवस्थाओ का विस्तार चौदह गुण-स्थान है, जो बहिरात्मा से परमात्मावस्था पर पहुचने की विविध श्रेणिया है ।

इन भूमिकाओ को नीचे लिखी चार श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ लक्ष्य-शुद्धि इस भूमिका को सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन कहा जाता है । इसका अर्थ है जीवन मे विषमता लानेवाले समस्त तत्त्वो से मुख मोडकर समता को सर्वोच्च लक्ष्य मानना । इसके तीन अग है, (क) लक्ष्य, (ख) पथ-प्रदर्शक तथा (ग) पथ । लक्ष्य के रूप मे वह अवस्था है, जहा समस्त विषमताए मिट जाती है और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाता है । उस अवस्था पर पहुचे हुए महामानवो को जैन-धर्म मे देव या भगवान कहा गया है । पथ-प्रदर्शक वह साधक है, जो विषमता के आभ्यन्तर तथा बाह्य समस्त कार्यों से मुह मोडकर एकमात्र समता की साधना मे लगे हुए है । वे समता के पथ पर स्वय चलते हैं और अपने जीवन एव उपदेशो द्वारा दूसरो का मार्ग-दर्शन करते है, इन्हे साधु कहा जाता है । उनके लिए पारिभाषिक शब्द है 'निर्ग्रंथ' । इसका अर्थ है, जिसने विषमता की सब गाठो को खोल दिया है । तीसरा अग वह पथ है, जिस पर चलकर अनेक व्यक्तियो ने पूर्ण क्षमता प्राप्त की । इन तीनो पर विश्वास मानवता की पहली भूमिका है ।

२ व्यवहार-शुद्धि दूसरी भूमिका व्यवहार-शुद्धि है । इसका अर्थ है परस्पर व्यवहार मे नैतिकता और समता की उपासना । इसके मुख्य दो प्रकार हैं । ऐसा व्यवहार न करना, जिससे दूसरे को कष्ट पहुचे, इमे

अहिंसा कहा जाता है। दूसरा रूप है, अपने जीवन को ऐसा बनाना, जिससे वह दूसरो के लिए ईर्ष्या तथा प्रलोभन का कारण न बने, इसी को अपरिग्रह कहा गया है। जैन-परिभाषा मे यह श्रावक की भूमिका है, जहा वह एक ओर निरपराध को सताने का त्याग करता है, दूसरी ओर धन-सम्पत्ति की मर्यादा करता है।

३ जीवन शुद्धि : तीसरी भूमिका मे हिंसात्मक सामाजिक व्यवहार को सर्वथा रोक दिया जाता है। साधक विषमता के आन्तरिक कारणो पर विचार करता है और उन्हे दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह भूमिका साधु की है।

४. पूर्ण-शुद्धि . यह 'महामानव' की भूमिका है, जहा व्यक्ति राग, द्वेष आदि विषमता के समस्त कारणो पर विजय प्राप्त कर लेता है, यही भूमिका जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

भर्तृहरि ने सामाजिक दृष्टि से मनुष्यो को चार कोटि मे बाटा है

१ सत्पुरुष . वे लोग, जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरे का हित-साधन करते है। इसे हम महामानव की भूमिका कह सकते है।

२ सामान्य जन · वे जन, जो स्वार्थ को क्षति न पहुचाते हुए परहित-साधन करते है। वे मानव है।

३. मानवराक्षस : जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुचाते हैं। इन्हे नर पशु कहा जा सकता है।

४ राक्षस पशु . जो बिना ही स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुचाते है।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नही दिया। ऐसे व्यक्तियो के लिए 'ते के न जानीमहे' कहकर छोड दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियो मे से प्रथम दो परोपकार मे आती है और अतिम दो स्वार्थ या पर-पीडन मे। दूसरे शब्दो मे पहली दो मानवता की है और अतिम दो पशुता की। इनके साथ एक कोटि और जोडी जा सकती है और वह उन लोगो की है, जो स्वय हानि उठाकर भी दूसरो को हानि पहुचाना चाहते है, उन्हे 'उन्मत्त राक्षस' कहा जायगा।

स्वार्थ एव परोपकार, तरतमता का निर्णय नीचे लिखे चार तत्त्वो से होता है ·

१ क्षेत्र की व्यापकता
२ त्याग-वृत्ति
३ उद्देश्य की पवित्रता
४ परिणाम की मगलमयता

क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, परोपकार मे उतनी ही उत्कृष्टता आती जायगी। जव वही क्षेत्र बढते-बढते अखिल विश्व तक पहुच जाता है तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है, अर्थात व्यक्ति जब निजी सुख-दुख एव इच्छाओ को भूलकर उन्हे अपने परिवार के सुख-दुख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख मे सुखी तथा उसके दुख मे दुखी होने लगता है, यह परोपकार की ओर पहला कदम है। मानव-शास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य मे यदि इतनी भी परोपकार-वृत्ति न होती तो वह कभी का नष्ट होगया होता। उसने यह पाठ जीवन एव अस्तित्व के रक्षण के लिए सघर्ष करते हुए सीखा है। अत उसमे त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना ही अधिक है। मानव-शास्त्रियो का यह मत अशत ठीक होने पर भी सब जगह लागू नही होता।

परिवार से आगे बढकर मनुष्य वश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियो मे अपने वश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एव सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीडन की। परिणामस्वरूप विभिन्न कुलो मे परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेताकुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक-धर्म या पुण्य की कोटि मे नही आता, क्योकि वह क्षेत्र की दृष्टि से सकुचित तथा परिणाम की दृष्टि से अमगल है।

कुलो से आगे बढकर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियो तक परोपकारी और उनके बाहर स्वार्थी बनकर रहना सीखा। एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है,

किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियो पर बलात्कार करना पाप नही है। ईसाई तथा मुसलमान-धर्मो ने सिद्धान्त रूप मे विश्व-बधुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार मे अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने मे सकोच नही किया। आर्यो ने भी प्रारम्भ मे भारत के आदिवासियो के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत मे धार्मिक परिधियो का प्रभाव अब भी विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियो का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विश्व मे गुटबदी, परस्पर भय एव युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परोपकार का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदो ने समस्त चराचर-जगत का आधारभूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा, "तू वही महान तत्त्व है।" इस प्रकार सार्वभौम एकता का सदेश दिया। बौद्ध एव जैन परम्परा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप मे उपस्थित किया। ईसा मसीह का जो सदेश गिरि-प्रवचन मे मिलता है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसा-मसीह आदि कुछ विरल पुरुषो ने उस महान आदर्श को जीवन मे उतार कर भी बताया है।

इस प्रकार क्षेत्र जितना विकसित होगा, परोपकार उतना ही श्रेष्ठ तथा उदात्त होता जायगा। इसके विपरीत, स्वार्थ क्षेत्र-विकास के साथ उत्तरोत्तर अधिक क्रूर होता जाता है। तैमूरलग, नादिरशाह, चगेजखा आदि बहुत से आततायियो ने व्यापक रूप से लूट-मार की और वे विश्व के लिए अमगल बन गए। व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को जब धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम से ससार मे जो अत्याचार हुए है, वे इसका उदाहरण हैं। भर्तृहरि ने उन लोगो को निम्नतम कोटि मे रखा है, जो बिना स्वार्थ के पर-पीडन करते है। यहा स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहातक भौतिक आवश्यकताओ या साधारण आकाक्षाओ की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हे स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओ को पारकर अनर्गल बन जाती है, जब वह केवल अपना आतक जमाने, दूसरो पर प्रभुत्व स्थापित करने, दूसरो के न्यायोचित

अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा मे नही रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि मे आता है।

यहा एक प्रश्न होता है, मनुष्य जब धर्म या राष्ट्रीयता के नाम पर अत्याचार करता है तो उसे क्या कहा जायगा ? मध्यकाल मे ईसाइयो और यहूदियो, हिन्दुओ और मुसलमानो मे भयकर युद्ध हुए। मुसलमान आक्रामको ने विधर्मियो की हत्या को धर्म की सेवा समझा। साम्यवादी पूजीवादियो को नष्ट करना अपना धर्म समझ रहे हैं। इसी प्रकार पूजीवादी साम्यवाद को विश्व का सबसे बडा अभिशाप मानते है और उसे सभी उपायो द्वारा समाप्त करना अपना धर्म समझते है। हिटलर ने देशद्रोही कहकर लाखो यहूदियो को मार डाला। इन घटनाओ को क्या कहा जायगा ? इसके उत्तर मे दो बातें हैं। पहली बात यह है कि इन घटनाओ को धर्म या राष्ट्र की सेवा मानना गलत है।

इस प्रकार की द्वेषभावना और नर-सहार से विजेता तथा पराजित किसी का कल्याण नही होता। क्षणभर के लिए एक की अहकारपूर्ति भले ही हो जाय, अन्त मे दोनो को पश्चात्ताप होता है। महाभारत के युद्ध मे पाडवो की जीत हुई, किंतु लाखो व्यक्ति मारे गए। वृद्ध पिताओ के सहारे मिट गए, माताओ की गोद सूनी हो गई, स्त्रियो का सुहाग पुछ गया और बहिनो के भाई नष्ट हो गए। चारो ओर क्रदन तथा हाहाकार सुनाई देने लगा। युधिष्ठिर ने उस करुण दृश्य को देखकर भगवान कृष्ण से कहा था, "जयोऽजय जयाकार भगवन् प्रतिभाति माम्" (हे भगवन, यह जीत भी मुझे हार दिखाई देती है।) युधिष्ठिर के इन शब्दो मे प्रत्येक युद्ध तथा सघर्ष के परिणाम का चित्र मिलता है, उससे कोई सुखी नही होता। सैकडो वर्षों की अर्जित सपत्ति भस्मसात हो जाती है। सामाजिक व्यवस्था टूट जाती है, दुराचार और क्रूरता फैलने लगती है। अत युद्ध या हिंसा को किसी भी रूप मे मगलमय नही कहा जा सकता। वह धर्म, राष्ट्रीयता या जाति किसी के नाम पर हो, उससे किसी वर्ग की सेवा नही होगी।

दूसरी बात यह है कि वास्तव मे देखा जाय तो आक्रामक अपने

राक्षसी अहकार और हिंसावृत्ति का ही पोषण करता है। खुल्लम-खुल्ला ऐसा करने मे कुछ सकोच होता है। अतरात्मा मे कुछ झिझक होती है। धर्म या राष्ट्रीयता का आवरण प्रकाश की उस किरण को भी ढक देता है। परिणाम-स्वरूप ऐसा करने मे उन्हे किसी प्रकार का सकोच नही रहता।

१९४७ की घटना है। विभाजन के कारण भारत में रक्तपात हो रहा था। एक व्यक्ति ने फरसा तान रखा था, दूसरा नीचे पडा प्राणो की भीख माग रहा था। फरसा नीचे आया और गर्दन कट गई। आतताई भीषण अट्टहास के साथ चिल्लाया—"बोल महात्मा गाधी की जय!" उन्ही दिनो गांधीजी साम्प्रदायिक प्रेम स्थापित करने के लिए अनशन कर रहे थे। हम नहीं कह सकते कि वह हत्यारा वास्तव मे गाधीजी की जय बोल रहा था या उनका भक्त था। वह सच्चे अर्थों में धार्मिक भी नही था। किंतु उसने अपने सस्कारो के अनुसार धर्म और महात्मा गाधी की एक कल्पना कर रखी थी, जो उसकी अन्तरात्मा का आवरण बनी हुई थी। परिणामस्वरूप, वह हिचकिचाहट समाप्त हो गई, जो निर्दोष पर शस्त्र उठाने मे हुआ करती है। उन दिनो विधर्मी स्त्रियो के साथ बलात्कार करना भी धर्म की सेवा समझा जा रहा था। मिथ्या कल्पना ने उच्छृखलता और पाशविक वासनाओ की अनर्गल पूर्ति को धर्म का बाना पहना दिया। राष्ट्रीयता के नाम पर होनेवाले उन्माद भी इसी प्रकार के है। राष्ट्रीयता का वास्तविक लक्ष्य परस्पर सहयोग द्वारा जीवनविकास है। बाह्य आक्रमण का सामूहिक प्रतिरोध भी उसमे आजाता है, किन्तु उसका लक्ष्य दूसरे पर आक्रमण नही है। अमरीकी सेना ने हिरोशिमा तथा नागासाकी के निर्दोष नागरिको को भीषण बम गिराकर समाप्त कर दिया। कहा जाता है, जापान उसके पहले ही पराजय स्वीकार कर चुका था, किन्तु अमरीकी वैज्ञानिक अपने नवीन आविष्कार का प्रभाव देखना चाहते थे। पराजित राष्ट्र के प्राणो का उनकी दृष्टि मे कोई मूल्य नही था। अत वही परीक्षण किया गया और क्षणभर मे लाखो निरीह प्राणो को स्वाहा कर दिया गया। इसे न राष्ट्रीयता कहा जा सकता है और न विज्ञान की सेवा।

त्याग-वृत्ति

परोपकार का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। व्यक्ति मे अपने सुख तथा स्वार्थ को छोडने की भावना जितनी प्रबल होगी उतना ही परोपकार उच्चकोटि का होगा। विभिन्न धर्मों में त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी। इस जन्म मे दान देने से अगले जन्म मे सैकडो गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म मे कामभोगो का त्याग करने से स्वर्ग मे अप्सरा मिलेगी। इस जन्म मे मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा, जहा शराब की नदिया बह रही है। शकराचार्य न इस प्रकार के त्याग को वणिक-वृत्ति कहा है। वास्तव मे वह एक तरह का सौदा है, जहा थोडी पूजी लगाकर अधिक पूजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। वास्तविक परोपकार मे त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आपमे सुख है। उससे सात्त्विक आनद की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए परित्याग करते-करते जब उसकी चरम सीमा पर पहुच जाता है, तब उसका 'स्व' कुछ भी नही रहता, सबकुछ 'पर' हो जाता है। इसीको सूफी परम्परा मे 'खाकपरस्ती', वेदान्त मे 'ब्रह्मलय', बौद्धदर्शन मे 'शून्यविजय' तथा जैन-दर्शन मे 'मोहनाश' कहा गया है।

इसके विपरीत, स्वार्थ-साधन की भावना जितनी उग्र होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायगा। इस उग्रता के कई मापदण्ड हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिवधो को तोडकर स्वार्थ-साधन करता है, अर्थात जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी है, वह निम्नतम स्तर पर है। बहुत-से व्यक्ति राजकीय नियमो को तो नही तोडते, किन्तु सामाजिक एव धार्मिक कर्तव्यो का भग करते है। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नही मानते, फिर भी दुराचारी एव पापी तो हैं ही। उदाहरण के रूप मे एक मजदूर पारिवारिक व्यवस्था के कारण किसी धनवान से थोडा-सा कर्ज ले लेता है, विवशताए बढती चली जाती है और वह कर्ज को चुकाने मे असमर्थ हो जाता है। ऋणदाता उसके घर

तथा आजीविकोपार्जन के साधनो को नीलाम कर देता है। मजदूर का परिवार भयकर सर्दी मे खुली सडक पर बैठने के लिए बाध्य हो जाता है, पेट भरने के लिए उसे या तो भीख मागनी पडती है या चोरी, व्यभिचार आदि कोई अनैतिक धधा अपनाना पडता है। फिर भी ऋणदाता अपने को दोषी नही मानता। प्रत्युत मन-ही-मन इस अहकार का अनुभव करता है कि मैंने उसके कष्ट मे सहायता की है।

दूसरी ओर, कुछ व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एव पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर होते हैं। इसके लिए अनेक डाकुओ का उदाहरण दिया जा सकता है। वे लोग धनवानो को लूटकर गरीबो की सहायता किया करते थे। फ्रास तथा रूस मे राज्य-क्रातिया इसी रूप मे हुईं। मजदूरो ने सत्ता-प्राप्त वर्ग को समाप्त कर दिया। जबतक राजकीय सत्ता उनके हाथ मे नही आई तबतक वे अपराधी थे। सत्ता बदलने पर वे शासक बन गये, और कानून उनके हाथ मे आगया। उस समय पुराने सत्ताधीश अपराधी बन गये। फ्रास मे ऐसी घटनाए भी हुई हैं, जहा मजदूरो का सहायक होने पर भी एक व्यक्ति को केवल राजघराने मे जन्म होने के कारण अपराधी मान लिया गया और फासी पर चढा दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजकीय नियम आचार के किसी शाश्वत सिद्धान्त पर आधारित नही होते। सत्ता-प्राप्त-वर्ग उन्हे अपनी इच्छानुसार बदलता रहता है, वे नैतिकता का मापदण्ड नही बन सकते। अनेक बार ऐसा भी होता है कि राजकीय नियमो का उल्लघन कर्त्तव्य की कोटि मे आ जाता है। भारत ने विदेशी राज्य का अन्त करने के लिए चिरकाल तक सघर्ष किया। अगरेजी सरकार द्वारा बनाये हुए कानून को तोडा। उन दिनो प्रत्येक भारतीय का यह धर्म माना गया। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एव सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है। जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमो का उल्लघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहा यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमो का अर्थ साम्प्रदायिक नियम नही है। साम्प्रदायिक नियमो का निर्माण मनुष्य अपने सगठन के लिए करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते है। योगसूत्र मे उन्हे देश,

काल एव परिस्थिति की परिधि से मुक्त सार्वभौम कहा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादाए मुख्य तथा सामाजिक नियमो की कोटि मे आती है।

सामाजिक तथा राजकीय नियमो का उल्लघन भी चरित्रविकास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उसमे निर्णायक तत्त्व उद्देश्य है। बहुत-से सामाजिक नियम या रूढिया अपने जन्मकाल मे उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्जीव हो जाती है, और व्यक्ति के विकास मे बाधाए उपस्थित करने लगती है। बहुत-से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के होते है। ऐसे नियमो का उल्लघन पाप के स्थान पर धर्म हो सकता है। अत सामाजिक या राजकीय नियमो का पालन सापेक्ष है। अर्थात उनका पालन करते समय उन्हे स्वमगल तथा परमगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उसमे सहायक हो, तो स्वीकार करने योग्य है, अन्यथा हेय। इसके विपरीत, धार्मिक नियमें शाश्वत है। उन्हे तात्कालिक विकास की परख पर नही उतारा जा सकता।

लक्ष्य-शुद्धि

परोपकार का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है, अर्थात दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र होगा, परोपकार उतना ही उच्च-कोटि का होगा। धनप्राप्ति, वासना या किसी प्रकार की भौतिक कामना की पूर्ति मे दूसरे की सहायता करना परोपकार मे नही आता। ये सब स्वार्थ के अतर्गत है। उनमे भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियो-वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्नकोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामना से ऊपर उठकर व सात्त्विक इच्छाओ से प्रेरित होकर परहित करता है, वहा से परोपकार प्रारम्भ होता है।

सभी धर्मों मे परोपकार एव परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए विविध प्रकार के प्रलोभन दिये गए है और स्वार्थ-वृत्ति को दूर करने के लिए भय बताये गए हैं। कहा गया है—जो तपस्या द्वारा काम-भोगो पर नियत्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार, दूसरे की हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म मे विविध प्रकार के रोग

उत्पन्न होते है तथा दूसरे जन्म मे नरक तथा पशुयोनि के कष्ट भोगने पडते है। इस प्रकार, भय या कामनापूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो परहित या धर्मसाधन किया जाता है, वह लक्ष्य-शुद्धि की दृष्टि से निम्न-कोटि का ही माना जायगा।

परिणाम की मंगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा, जो सभी के लिए मगलमय है। जो आदि मे भी मगल है, मध्य मे भी मगल है और अन्त मे भी मगल है—ऐसा परोपकार परार्थ की सीमा से बढकर परमार्थ बन जाता है।

इस तत्त्व मे क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनो बातो के होने पर भी यदि करनेवाले मे विवेक नही है, तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीडन बन जायगा। धार्मिक एव सामाजिक सगठनो मे इस प्रकार का अविवेक पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किये जाते है और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होता है। किन्तु उन्ही आडम्वरो के कारण धर्म की आत्मा घुटकर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है, और केवल शव वाकी रहता है। अत. इस वात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाय कि धर्म मगलमय है। हमारे पुराने सस्कार अहकार, अस्मिता, मोह आदि विकारो के कारण दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीन्द्र ने 'गीताजलि' मे प्रश्नोत्तर के रूप मे कहा है—

"दीपक क्यो वुझ गया ?

मैंने उसे अपनी चादर से ढक लिया और वह वुझ गया।"

वास्तव मे हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते हैं और जिससे हमे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए, वह वुझ जाता है। गीताजलि मे दूसरा प्रश्न किया गया है

"फूल क्यो मुरझा गया ?

मैंने उसे तोडकर अपनी छाती से चिपका लिया, अत फूल मुरझा गया।"

अनेक महापुरुषो की तपस्या एव साधना का खाद प्राप्त करके धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और सुगध फैलाने लगता है। आवश्यकता है इस बात की कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सीचते रहे, फूल अपने-आप खिला रहेगा और नये-नये फूल भी प्रकट होते रहेगे। किन्तु अहकार के मिथ्या अभिनिवेशो से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोड-कर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वय सुगध लेता है, न दूसरो को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगध पर एकाधिपत्य की भावना लोक के लिए मगलमय सिद्ध नही हुई। यदि धार्मिक सगठनो का उद्देश्य लता को सीचना है, तो उनकी उपयोगिता समझ मे आ सकती है, किन्तु यदि वे फूल को तोडने का प्रयत्न करते है, तो धर्म-रक्षक के स्थान पर धर्म-भक्षक बन जाते है।

परिणाम की अमगलमयता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास मे देखा गया है। सहस्राब्दियो से विभिन्न सप्रदाय दूसरो को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करते आ रहे है और इसके लिए षडयत्र, सैनिक आक्रमण आदि उपायो का आश्रय लेते आये है। वे यह दावा करते है कि हम मिथ्यात्व के मार्ग पर चलनेवालो को धर्म के मार्ग पर ला रहे है, और इस प्रकार पर-कल्याण के मार्ग पर चल रहे है। किन्तु वास्तव मे दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वय पाप के मार्ग पर चल पडते है। वे दूसरो को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहते है, और इसके लिए उन्हे इस लोक के सुखो से जबरदस्ती वचित कर देते है। वास्तव मे वहा धर्म की आड लेकर उद्दाम अहकार क्रूर वृत्तियो की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है, और परिणाम मगलमय नही है।

यहा एक प्रश्न उठता है, क्या ऐसा कोई परिचित रूप है, जो किसीके लिए अमगल न हो? व्यक्तियो एव प्राणियो के स्वार्थ परस्पर टकराते है। एक जीव दूसरे जीव का जीवन अथवा भोजन है। इसका अर्थ है, एक का पोषण दूसरे का शोषण किये बिना नही हो सकता। फिर परम मगल क्या होगा? वास्तव मे यह विचारणीय प्रश्न है। इस दृष्टि से

मगल का चरम रूप समस्त व्यवहार की निवृत्ति है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सर्वमगल का चरम रूप समस्त व्यवहार की निवृत्ति है। इसीको भारतीय दर्शनो मे 'मोक्ष' कहा गया है। वह स्थिति ब्रह्मसमापत्ति है या शून्य मे विलय या सिद्धावस्था या अन्य कोई अवस्था—हम इस दार्शनिक चर्चा मे नही जाना चाहते। उस अवस्था की प्राप्ति व्यावहारिक जीवन मे नही हो सकती। फिर भी, यह निश्चित है कि इस लक्ष्य की ओर बढते जाना विश्व के लिए मगलमय है।

परमार्थ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप से स्वार्थ एव परोपकार की चर्चा की गई है। यथास्थान यह बताया गया है कि परोपकार ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमार्थ बन जाता है। उपनिषदो में ईश्वर का विराट के रूप मे वर्णन किया गया है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है—'माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है, इसी प्रकार का उत्कट प्रेम समस्त विश्व मे फैला दो। जैन-दर्शन मे भी राग और द्वेप को जीतकर सर्वमैत्री पर बल दिया गया है। इस प्रकार, हम देखते है कि सभी धर्मो मे परोपकार ही समस्त परिस्थितियो को पार कर लेने पर परमार्थ बन जाता है।

बौद्धो की महायान परम्परा मे साधना का लक्ष्य अशुभवासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तियो का सर्वथा निरोध नही होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियो की पराकाष्ठा के रूप में दस पारमिताए बताई गई है, जिनका अभ्यास बोधिसत्त्व करते हैं। वे दूसरो के लिए निर्वाण अर्थात मोक्ष भी छोड देते हैं। इसाई परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता मे निवृत्ति-मार्ग साख्य अर्थात ज्ञान-योग की अपेक्षा मे है, और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एव भक्ति-योग की अपेक्षा से। दोनो मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलम्बित हैं। जिसकी जिधर अभिरुचि हो, वह उसे अपना सकता है। दोनो ही परम-मगलमय माने गए है। वैष्णव परम्परा मे कहा गया है—परमात्मा की

भक्ति मुक्ति से भी बडी है भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी ।

बौद्धो के हीनयान तथा जैन-परम्परा मे वैयक्तिक मुक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है । इन दोनो परम्पराओ की मान्यता है कि शुभ एव अशुभ सभी प्रवृत्तियो का कारण वासना अर्थात मोह है । जबतक इसका अस्तित्व रहेगा, परम-मगल की प्राप्ति नही हो सकती । अतः वासना-क्षय या मोहनाश ही परम मगल है । उस समय व्यक्ति किसीके लिए अमगल नही रहता । इन दोनो के मत मे पारमार्थिक दृष्टि से अमगल का नाश ही मगल है ।

ऊपर मानवता की भूमिकाए बताई गई है । हम परोपकार को मानव की तथा परमार्थ को महामानव की भूमिका कह सकते है । लोक-तन्त्र का जहातक राजकीय व्यवस्था के साथ सम्बन्ध है, वह मनुष्य को मानव की भूमिका पर ले जाना चाहता है, अर्थात न वह दूसरे का शोषण करे और न दूसरा उसका शोषण करे । इसके लिए राष्ट्र, जाति, सगठन या अन्य किसी प्रकार के भेद को स्वीकार करना लोकतन्त्र के विरुद्ध है ।

पाश्चात्य मानवतावाद

यूनान के विचारको ने मानव का मुख्यतया बुद्धि को लक्ष्य मे रख-कर अध्ययन किया । उन्होने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि स्वतन्त्र विचारशक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होना चाहिए । इसीको लक्ष्य मे रखकर सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सम्बन्धो की व्यवस्था की ।

रोम-साम्राज्य के अभ्युदय के साथ धर्माचार्यों का प्रभुत्व बढा और वे मानव पर बुरी तरह छा गए । नैतिकता की उपेक्षा होने लगी और उनके आदेश सर्वोपरि बन गए । किसी का पापी या धर्मात्मा होना उनके आदेश पर निर्भर था । वे जिसे चाहते पापी घोषित करके नरक मे भेज देते, और जिसे चाहते धर्मात्मा कहकर स्वर्ग मे । जो उनकी आज्ञाओ का पालन करता था, वह सदाचारी था और जो उनका उल्लघन करता था, वह दुराचारी । नरक से बचने और स्वर्ग मे जाने के लिए

उन्हे प्रसन्न रखना आवश्यक था। इसके लिए धन-सम्पत्ति तथा अन्य रूपो मे रिश्वते दी जाने लगी। मानव ईश्वर तथा धर्म के नाम से प्रचलित विधि-विधानो मे छिप गया।

इसकी प्रतिक्रिया के रूप में सुधारक (Protestant) परम्परा का जन्म हुआ, उन्होने धर्माचार्यों का प्रभुत्व समाप्त करके राजकीय सत्ता अपने हाथ मे ले ली। पोप तथा पादरियो के फरमानो के स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र होकर सोचने का अधिकार मिला। धर्म के क्षेत्र को साधारण व्यवहार से पृथक कर दिया गया। राजनीति, अर्थ-व्यवस्था तथा समाज का सचालन धर्म के हाथो मे नही रहा।

उस समय मानव के सामने यह प्रश्न आया कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है, उन्नति और अवनति का मापदण्ड क्या होना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे एक ओर धर्म-सस्था ने पुरातन आदर्शों को उपस्थित किया और उनका दार्शनिक ढग से विवेचन किया जाने लगा। दूसरी ओर, मानवतावाद का जन्म हुआ, इसके मुख्य प्रवर्त्तक फ्रासीसी विचारक कौन्ते (Comte) थे। उन्होने मानव-जाति के विकास की तीन भूमिकाए बताईं। प्रथम भूमिका मे मानव अपने भविष्य तथा प्रकृति पर ईश्वर, देवी-देवता आदि अतीन्द्रिय शक्तियो का प्रभुत्व मानता रहा। अपनी सफलता को उनकी कृपा और विफलता को उनका प्रकोप समझता रहा, इस युग को उसने देवतावाद का युग (The Age of Theology) कहा है। दूसरी भूमिका मे उसने प्रकृति के रहस्यो को बुद्धि के द्वारा जानना चाहा। विश्व का स्वरूप क्या है, वह सत्य है या मिथ्या, उसकी रचना कैसे हुई इत्यादि प्रश्नो की चर्चा में उलझा रहा। इसे उसने तत्त्व-विद्या का युग (The Age of Metaphysics) कहा है।

मानव कुछ समय तक विश्व के निगूढ तत्त्वो का चिन्तन करता रहा। उसका चेतन, अचेतन, परमाणु, प्रकृति, द्रव्य, गुण आदि के रूप में विश्लेषण किया। किन्तु वह चर्चा विद्या-जीवियो की आजीविका तथा मनोरजन बनकर रह गई। सामान्य जीवन मे उसका उपयोग न हो सका। क्रमश विज्ञान का विकास हुआ। प्राकृतिक तत्त्वो का रेल, तार

आदि के रूप मे उपयोग होने लगा। इस भूमिका को कौन्ते ने रचनात्मक विचार (Positivism) का युग कहा है। उसने मनुष्य का अध्ययन भी इसी तथ्य को लक्ष्य मे रखकर किया। मनुष्य अपने-आपमे क्या है, उसने इस चर्चा को विशेष महत्त्व नही दिया। इसके स्थान पर मनुष्य किस प्रकार अधिक सुखी हो सकता है और उसके लिए परस्पर व्यवहार कैसा होना चाहिए; इस अध्ययन को अपना लक्ष्य वनाया। फलस्वरूप, समाज-शास्त्र (Sociology) का विकास हुआ।

कौन्ते ने ईश्वर के सिंहासन पर 'मानवता' को विठला दिया और ईश्वरीय उपासना-पद्धति के सदृश ही 'मानवता-उपासना-पद्धति' भी वना डाली। इस उपासना के लिए नये प्रकार के गिर्जाघर, नये ढग की सामूहिक प्रार्थना और नये विचारवाले पादरियो की व्यवस्था हो गई। कौन्ते के मतानुसार 'मानवता' एक सजीव सनातन शक्ति है। जैसे मनुष्य का शरीर असख्य परमाणुओ से बना हुआ है, वैसे ही 'मानवता' भी आदिकाल से लेकर अबतक मनुष्य के कार्यों के प्रभाव तथा उनके विचारो का मिश्रित परिणाम है। 'धर्म और दर्शन' उसी उन्नति या विकास के इतिहास हैं। वह लिखता है कि जव हमारी समझ मे यह आ जायगा और उसपर हमारा विश्वास हो जायगा, तव हमारा ज्ञान उस मानवता को जानने के लिए, हमारा प्रेम उसके प्रति स्नेह करने के लिए और हमारे समस्त कार्य उसकी सेवा के लिए होगे। परन्तु इस निराकार मानवता का भान होना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नही, इसलिए साकार मनुष्य मे ही उसका दर्शन और पूजन करना चाहिए। इस तरह ससार मे जो कुछ है, वह सव मनुष्य के लिए ही है।

कौन्ते के इस सिद्धान्त को 'मानवतावाद' (Humanitarianism) कहा गया। धीरे-धीरे वह यूरोप मे सर्वत्र छा गया। मनुष्य को केन्द्र मे रखकर सोचा जाने लगा और उसकी उपयोगिता मूल्याकन का आधार वन गई। उसी समय 'मिल' ने उपयोगितावाद (Pragmatism) को प्रस्तुत किया। मानवतावाद का यह आन्दोलन उत्तरोत्तर उग्र रूप लेता गया। उसने ईश्वर, धर्म आदि अतीन्द्रिय तत्त्वो को गिर्जाघरो की चर्चा तक सीमित कर दिया। साधारण व्यवहार मे उनका कोई

प्रभाव नही रहा। इस परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर जर्मन दार्शनिक नीत्से ने कहा कि बीसवी शताब्दी मे ईश्वर मर गया है।

मानवता का नारा लगाने पर भी पाश्चात्य विचारक यह निर्णय नही कर सके कि मानव क्या है? चिकित्सा-विज्ञान ने उसे हाड-मास के पुतले के रूप मे उपस्थित किया, मनोविज्ञान ने अनुभूतियो तथा इच्छाओ के पुञ्ज के रूप मे। मानवता के विकास का अर्थ शारीरिक सुख तथा इच्छाओ की अनर्गल तृप्ति मे समझा जाने लगा। जब एक की तृप्ति मे दूसरा बाधक हुआ तो उसे हिंसक शस्त्रो द्वारा समाप्त किया जाने लगा, और इसे मानवता की सेवा समझा गया। जिस प्रकार प्राचीन समय मे ईश्वर की सेवा का नारा लगानेवाले आपस मे टकराये, और ईश्वर के नाम पर सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना का सहार किया, उसी प्रकार, मानवतावादी आपस मे टकरानें लगे। विपक्षी का नाश करने के लिए भीषण शस्त्रास्त्र बनने लगे। मानवता की पूजा के लिए मानव की बलि चढाई जाने लगी। रुधिर से उसका अभिषेक होने लगा।

हम यह नही कहना चाहते कि मानवतावादियो का लक्ष्य प्रारम्भ से ही ऐसा रहा है। उनका मुख्य विरोध धर्म और ईश्वर के नाम पर खडे किये गए जड-तत्त्वो से था, जिन्होने मानव को जकड लिया था, किन्तु वह स्वय उसकी व्याख्या न कर सका। परिणामस्वरूप, मनुष्य पशु की भूमिका पर आ गया। कौन्ते ने मानव-विकास की जो तीन भूमिकाए बताई हैं, भारतीय दृष्टिकोण उसके विपरीत है। कौन्ते की दृष्टि मे भौतिक की भूमिका अन्तिम है, किन्तु भारतीय दर्शन इसे पशु की भूमिका मानते है, जहा व्यक्ति अपनी ही इच्छा तथा वासनाओ की तृप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। कौन्ते की दृष्टि मे ईश्वर या अतीन्द्रिय शक्ति मे विश्वास की भूमिका निम्नतम है। किन्तु भारतीय दर्शन इसे उच्चतम भूमिका मानते हैं। यह ठीक है कि कौन्ते का लक्ष्य जिस ओर है, भारत ईश्वरवाद का वह अर्थ नही करता। पाश्चात्य धर्मो मे ईश्वर मनुष्य से भिन्न है, मनुष्य उसके सामने भय से कापता हुआ उपस्थित होता है, किन्तु भारत मे वह उसका निजी रूप है।

भयभीत होने के स्थान पर वह उन्हे प्राप्त करने के लिए व्याकुल है।' दूसरे शब्दो मे वह मनुष्यता की ही चरम-अभिव्यक्ति है।

जब कौन्ते भौतिक सुखवाद के आधार पर समस्याओ का समाधान नही कर सका तो उसने भी किसी अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना की, और उसे लक्ष्य मे रखना आवश्यक समझा। उसने कहा—'विश्व की वर्तमान अशान्ति का मुख्य कारण यह है कि किसी मूल सिद्धान्त पर सब लोग एक-मत नही हैं। जबतक वे मूलभूत सिद्धान्त पर सहमत नही होते, राष्ट्र-क्रान्ति की स्थिति मे बने रहेगे, और राजनैतिक दवाइया कारगर नही होगी।' यद्यपि वैज्ञानिक या भौतिक सिद्धान्त को मूलभूत बतलाया गया तथापि वह सर्वत्र लागू हो जायगा, यह समझना ठीक न होगा।

मिल ने अपने उपयोगितावाद की व्याख्या करते हुए उसका आधार अधिक लोगो का अधिक सुख बताया है। यह सिद्धान्त कई दृष्टियो से दोषपूर्ण है। सर्वप्रथम यह दोष है कि यह निर्णय कैसे किया जायगा कि अमुक बात से अधिक लोगो को सुख प्राप्त होगा। लोगो की इच्छाए अनेक प्रकार की हैं, और वे बदलती रहती है। भूखा आदमी रोटी को सुख मानता है, पेट भरने पर विलासिता और स्वच्छन्द आचरण को। दूसरे को नीचा दिखाने और उसके अधिकार को छीनने मे भी हमे सुख मिलता है। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि सुख की व्याख्या की जाय। विचार करने पर हम उन्ही शाश्वत सिद्धान्तो पर पहुच जायगे, जो भारतीय धर्मों ने महाव्रत के रूप मे प्रस्तुत किये है। वे सिद्धान्त ऐसे है, जिनमे सभी का सुख सन्निहित है, वहां किसीका मतभेद नही है। इसके विपरीत अधिक सख्या का सिद्धान्त अपने-आपमे सघर्ष को लिये हुए है, वह स्थायी नही है। उसे मूल्याकन का शाश्वत आधार नही बनाया जा सकता। यह ठीक है कि जीवन मे अस्थायी मूल्यो की भी आवश्यकता होती है, किन्तु वह सभी सापेक्ष है। उनका लक्ष्य स्थायी मूल्यो की ओर होना चाहिए। इसका अर्थ है, यदि सामाजिक जीवन मे हिंसा या दण्ड की आवश्यकता पडती है तो उसका भी लक्ष्य अहिंसा तथा सर्वमैत्री होना चाहिए। मिल ने सुख की परिभाषा भौतिक सुखो को लेकर की है, किन्तु यह सुख सबको एक-सा नही प्राप्त हो सकता। परिणाम-

स्वरूप, सघर्षो का होना स्वाभाविक है। उन्हे दूर करने का एक ही उपाय है कि हमारा लक्ष्य उस आदर्श की ओर रहे, जिसे सभी समान रूप से प्राप्त कर सकते है, जहा किसी प्रकार का भेद नही रहता।

ईश्वर को मृत कहने पर भी नीत्से को अपने ग्रन्थो मे आधिभौतिक दृष्टि से कर्मविपाक तथा पुनर्जन्म स्वीकार करना पडा। वह लिखता है कि ऐसा काम करना चाहिए 'जो जन्म-जन्मातरो मे भी किया जा सके। समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए; जो आदर्श मानव को उत्पन्न कर सके। इसका अर्थ है, वे व्यक्ति जिनकी वृत्तिया सकुचित परिधियो को पार कर पूर्ण विकसित हो चुकी है। इस 'महामानव' (Super-human) का निर्माण ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और परम साध्य होना चाहिए।

मानवता के आवरण

मानवता का पुनर्निमाण करने के लिए उन सब आवरणो को हटाना होगा, जो अन्तरात्मा को दवाये हुए है तथा मनुष्य और मनुष्य मे भेद खडा कर रहे है। एक ओर वे सफल, सम्पन्न या विजेता वर्ग की बुद्धि को विकृत करके हमारा ध्यान ऐसे लक्ष्यो की ओर आकृष्ट करते रहते हैं, जो आपातत आकर्षक होने पर भी अन्त मे मगलमय नही है। वे ही सघर्षों तथा युद्धो को जन्म देते हैं। इसे हम राजस प्रभाव कह सकते हैं। दूसरी ओर, विफल, पराजित या निर्धन-वर्ग की आत्मा को कुण्ठित कर देते है, गुलामी, दासता तथा अकर्मण्यता उसका स्वभाव वन जाता है, इसे तामस प्रभाव कहा जा सकता है। अगले पृष्ठो मे उनकी सक्षिप्त चर्चा की जायगी।

धन-सम्पत्ति

जीवन-निर्वाह के लिए हमे परस्पर वस्तुओ का आदान-प्रदान करना होता है। इसके लिए सुविधाजनक माध्यम के रूप मे मुद्रा का आविष्कार किया गया। इसका दूसरा प्रभाव यह हुआ कि सम्पत्ति का सचय करना सरल हो गया। मुद्रा क्रय-शक्ति का आधार वन गई, और वह

जिसके पास जितनी अधिक है, वह उतना ही सम्पत्तिशाली माना जाने लगा। ऐसी कोई वस्तु न रही, जिसे मुद्रा द्वारा न खरीदा जा सके। परिणामस्वरूप, प्राकृतिक सम्पत्ति, मानवीय श्रम तथा प्रतिभा पर सम्पन्न-वर्ग का आधिपत्य होने लगा। रुपये द्वारा उसने वैज्ञानिको के मस्तिष्क, राजकीय अधिकार तथा धर्म-व्यवस्था सभी को अपने अधीन कर लिया।

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार भी सम्पत्ति बन गई। आज समाज मे धन को जो मान मिलता है, वह सचाई अथवा ईमानदारी को नही मिलता।

धन की इस प्रभुता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि जीवन का लक्ष्य धनोपार्जन बन गया है। धर्म, शिक्षा, कला आदि सस्कृति के सभी तत्त्व उसके साधन बन गए है। धर्माराधन के लिए अर्थोपार्जन नही किया जाता। किन्तु अर्थोपार्जन के लिए धर्माराधन किया जाता है। इसी प्रकार विद्या तथा कला अपने-आपमे लक्ष्य नही रहे। आध्यात्मिक गुणो का विकास उतना आवश्यक नही रहा, जितना उनका प्रदर्शन। इस प्रकार, धन की प्रभुता ने मानव को मार्ग-भ्रष्ट कर दिया। उसे दम्भी बना दिया। इसे हम राजस प्रभाव कह सकते है।

दूसरी ओर, जो वर्ग धनोपार्जन करने मे असफल रहा, वह उत्तरोत्तर दवता चला गया। धर्म ने उसके समस्त अभाव और कष्टो को पूर्वजन्म के पाप का फल बताकर शान्त रहने के लिए कहा। आर्थिक सुविधा न मिलने के कारण उसके बालक शिक्षा से वचित रह गए, उदर-पूर्त्ति के लिए होश सभालते ही मजदूरी करनी पडी। उनकी महत्त्वाकाक्षाए समाप्त हो गई। जिस प्रकार भक्त ईश्वर के साक्षात्कार की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार वे धनवान के प्रसाद की प्रतीक्षा करने लगे। यह धन की प्रभुता का तामस प्रभाव है।

उसने मानव और मानव के बीच दीवार खडी कर दी। एक वर्ग का जीवन पशु के समान हो गया, और दूसरा अपनेको देवता समझने लगा। साम्यवाद इस वर्ग-भेद को दूर करके सभीको मानवता के स्तर पर लाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु उसकी दृष्टि मे मानव का जो स्वरूप है, वह एकागी है। उसने भौतिक रूप को सामने रखा है, किन्तु

मानव वही तक सीमित नही है।

मानवता की पुन स्थापना तभी सम्भव है जब धन मनुष्य के लिए हो, मनुष्य धन के लिए नही।

राजकीय सत्ता

मानवता का दूसरा आवरण राजकीय सत्ता रही है। प्राचीन समय मे राजा ईश्वर का अंश समझा जाता था। मनु का कथन है

बालोऽपि नावमन्तव्या अल्पज्ञ इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

अर्थात बालक होने पर भी राजा को अल्पज्ञ समझकर उसका अपमान नही करना चाहिए; वह तो दैवी-शक्ति है, जिसने मनुष्य का रूप धारण कर रखा है। प्रजा को राजा के चरित्र की आलोचना करने का अधिकार नही था। उसके मुख से निकली हुई आज्ञाए ही न्याय थी। यदि वह सुन्दरी या सम्पत्ति से आकृष्ट होकर पडोसी राज्य पर आक्रमण करता था, तो भी उसका साथ देना, उसकी निरर्गल कामुकता और राक्षसी लोभवृत्ति का पोषण करने के लिए अपने प्राणो को झोक देना प्रजाजनो का कर्तव्य माना जाता था। अनुचित अधिकारो ने राजा की बुद्धि को विकृत कर दिया। वास्तविकता को भूलकर वह अपने-आपको अतिमानव मानने लगा। दूसरी ओर, प्रजाजन कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक भूलकर उसकी आज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा मानने लगे। फलस्वरूप, दोनो मे मानवीय गुणो का विकास रुक गया। लोकतन्त्र राजकीय सत्ता के उन्माद को समाप्त करके उसे कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व की भूमिका पर लाना चाहता है। यहा मनुष्यता की दृष्टि मे राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री, सर्व-साधारण से बडा नही है। उसे जो अधिकार मिला है वह सर्वसाधारण का दिया हुआ है, जिससे वह अपना उत्तरदायित्व निभा सके। ऐसा न करने पर सर्वसाधारण उस अधिकार को छीन भी सकता है। वहा अधिकार मनुष्य के अधीन है, मनुष्य अधिकार के अधीन नही है।

राजकीय आवरण का दूसरा रूप राष्ट्रीयता है। एक बानर उदात

होते ही अपनेको राष्ट्र-विशेष का सदस्य मानने लगता है और दूसरे राष्ट्र से द्वेष करने लगता है। राष्ट्रीयता के नाम पर खडी की गई यह कृत्रिम परिधि विश्व को विनाश की ओर ले जा रही है।

सामाजिक रूढ़ियां

मानवता का तीसरा आवरण सामाजिक रूढिया हैं। भारत तथा अन्य देशो मे वहुत-सी ऐसी धारणाए प्राचीनकाल से चली आ रही है, जिनके कारण उत्पन्न होते ही एक वालक उत्कृष्ट वन जाता है और दूसरा निकृष्ट। उनका प्रारम्भ गुण या अन्य किसी भी आधार पर हुआ हो, किन्तु इस समय उनके द्वारा गुणो की उपेक्षा हो रही है। वर्ण-भेद भारत नही, विश्व का अभिशाप वना हुआ है। अनेक स्थानो पर लिग-भेद भी वैषम्य का कारण है। अव भी जातीय परिधिया हमारे मस्तिष्क पर छाई हुई है और वह अवसर पाते ही ज्वालामुखी के समान भड़क उठती हैं। हिन्दू और मुसलमान अगरेज और यहूदी आदि का भेद अभी तक मिटा नही है।

प्रत्येक जाति मे वहुत-से ऐसे रिवाज होते है, जो उपयोगिता समाप्त होने पर भी चलते रहते है। वे मानवीय गुणो का विकास नही होने देते। राष्ट्र या जाति के नाम पर जमी हुई अहकार भावना हमे परस्पर मिलने से रोकती है। पडोसी होने पर भी हम एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं।

जातीय अस्मिता की रक्षा के लिए वहुत-से ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जिनका वास्तविक उपयोग समाप्त हो चुका है और वह अनावश्यक वोझ वनकर व्यक्तित्व को दवा डालते हैं। उदाहरण के रूप मे झूठी प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न अवसरो पर किये जानेवाले अपव्ययो को प्रस्तुत किया जा सकता है।

पंचकोश

इनका निरूपण किया जा चुका है। किसी मनुष्य का व्यक्तित्व स्थूल शरीर से ढका रहता है अर्थात वह उसीके भरण-पोषण मे लगा रहता

है । उसका ध्यान किसी उच्च लक्ष्य की ओर नही जाता । इसी प्रकार प्राण, इन्द्रिया, मन, बुद्धि आदि सभी कोश है, जो हमारे वास्तविक रूप को ढके हुए है । इन्हे दूर करके अन्तरात्मा को प्रकट करना अध्यात्म-विद्या का लक्ष्य है । किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि लौकिक जीवन मे उसका कोई उपयोग नही है । इन कोशो से जैसे-जैसे छुटकारा मिलता है, हमारा व्यक्तित्व ऊचा उठता जाता है । शरीर की साल-सम्भाल के लिए आलसी जीवन व्यतीत करनेवाले की तुलना मे कर्मशील व्यक्तित्व ऊचा है, जहा प्राणमय कोश काम करता है । उससे भी ऊचा मनोमय कोश है, जहा कर्मेन्द्रियो के स्थान पर मन अधिक शक्तिशाली हो जाता है । उससे ऊचा व्यक्तित्व विचारक का है, जो इच्छाओ का दास न होकर विचार कर काम करता है । जो व्यक्ति सासारिक स्वार्थो से ऊपर उठकर सात्त्विक आनन्द का अनुभव कर रहा है, उसका व्यक्तित्व विचारक से भी ऊचा है । अन्तिम अवस्था उससे भी परे है ।

मानवता का पुर्ननिमाण

हमने परस्पर व्यवहार के लिए अनेक प्रकार के सविधान बनाये । वे सब इस बात को मानकर चलते है कि मानवता दो क्षेत्रो मे बटी हुई है, एक क्षेत्र 'स्व' का है और दूसरा 'पर' का । यह विभाजन कही जाति को लेकर हुआ, कही भौगोलिक सीमाओ को, कही व्यवसाय को और कही रग को । परिणामस्वरूप, उन मर्यादाओ ने एक ओर परस्पर सहयोग तथा मित्रता को प्रोत्साहन दिया, और दूसरी ओर, वैमनस्य एव शत्रुता को । वर्तमान युग की माग है कि परस्पर भेद करनेवाले तत्त्वो को समाप्त करके विश्व की समस्त मानवता को एक ही भूमिका पर लाया जाय । यहा यह प्रश्न होता है कि वह भूमिका किस प्रकार की हो । इसके नीचे लिखे तत्त्व है

१ विचार-भेद का आदर—साधारणतया हम अपने विचारो को सत्य मानते हैं और दूसरे के विचारो को मिथ्या । अपनी मान्यताओं को दूसरे पर लादना चाहते है, किन्तु सत्य के अनेक पहलू है । वह किसी

एक विचार मे सीमित नही होता। जो विचार अपनेसे भिन्न पहलू का निराकरण करता है वह सत्य से दूर चला जाता है। अत भिन्न-भिन्न पहलुओ को प्रकट करनेवाली सभी दृष्टियो का स्वागत करना चाहिए, तभी सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान लोकतन्त्र मे इसके लिए विचार-सहिष्णुता शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु यह पर्याप्त नही है। सहिष्णुता का अर्थ इतना ही है कि हम दूसरे का विरोध न करें। यह निषेधात्मक है, किन्तु वास्तविक लोकतन्त्र के लिए विधि रूप को अपनाने की आवश्यकता है। इसका अर्थ है कि हम जिस प्रकार अपने विचार का स्वागत करते है, उसी प्रकार दूसरे के विचार का भी करें।

इसका दूसरा अर्थ है ज्ञान के विषय मे किसी प्रकार का सकोच न होना। प्राचीन मानव अपने ज्ञान के स्रोत को व्यक्ति, पुस्तक या परपरा-विशेष तक सीमित करता आया है। अपनी धर्म-पुस्तक को छोडकर दूसरे की धर्म पुस्तक पढना मिथ्यात्व, नास्तिकता या कुफ्र समझा गया। अन्धेरे मे कल्पित भय भूत, प्रेत आदि का रूप ले लेता है। इसी प्रकार विरोधी धर्म एव धर्म-ग्रन्थो के लिए मिथ्या कल्पनाए घर करने लगी और उन्होंने शाश्वत शत्रुता के सस्कारो का रूप ले लिया। वर्तमान युग प्रकाश का युग है। उसका आह्वान है कि प्रत्येक बात को अपनी आखो से देखो और परीक्षा करो। उससे पहले न उसे ग्राह्य समझो और न त्याज्य, न अपनी समझो और न परायी।

२ **व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सम्मान** अखण्ड मानवता का दूसरा तत्त्व व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है। प्राचीन मानव धर्म, समाज, राज्य-व्यवस्था आदि के नाम पर अनेक बन्धनो मे जकडा रहा। उसे यह पूछने का अधिकार नही मिला कि यह बन्धन किस लिए है। सबने किसी अतीन्द्रिय शक्ति का भय बताया और अपनी आज्ञाओ को मानने के लिए विवश किया। एक ओर स्वर्ग के प्रलोभन दिये गए और दूसरी ओर अनेक प्रकार के भय बताये गए। नरक, समाजदण्ड, राजदण्ड आदि इन्हींके विविध रूप है। यहातक कि यदि राजा किसी सुन्दरी को जबरदस्ती छीनने के लिए आक्रमण करता है तो उसके लिए लडना भी धर्म बताया

गया। सैनिको से कहा गया कि मरते ही तुम स्वर्ग मे जाओगे, और वहा तुम्हारा स्वागत करने के लिए अप्सराए हाथ मे वरमाला लेकर खडी है। दूसरी ओर, यदि युद्ध से भागोगे तो नरक मे जाना होगा, और हजारो वर्षों तक भयकर यातनाए सहनी होगी। वर्तमान मानव उन बन्धनो से छुटकारा प्राप्त करना चाहता है। वह मानने लगा है कि यह सब मर्यादाए मेरे लिए है, मैं इनके लिए नही हू। साथ ही उसकी यह माग है कि मनुष्य का आदर मनुष्यता के आधार पर होना चाहिए। प्राचीन मानव मनुष्य का आदर अन्य तत्त्वो के आधार पर करता रहा है। एक व्यक्ति को इसलिए आदरणीय माना गया, क्योकि वह जाति-विशेष मे उत्पन्न हुआ है, दूसरे को कुल-विशेष मे उत्पन्न होने के कारण, तीसरे को सगठन-विशेष का सदस्य होने के कारण, चौथे को स्थान-विशेष मे जन्म लेने के कारण। वर्तमान मानव इन आधारो को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है, वह वैयक्तिक गुणो के आधार पर आदर देना और प्राप्त करना चाहता है।

३ न्याय का नियन्त्रण—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अर्थ उच्छृखलता नही है। इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक व्यक्ति को मनमानी करने का अधिकार है। ऐसा होने पर सभी की सुख-शान्ति नष्ट हो जायगी। हमारा अस्तित्व खतरे मे पड जायगा, इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारो के समान दूसरे के अधिकारो का भी ध्यान रखे, जो सुविधाए वह स्वय प्राप्त करना चाहता है, उन्हे दूसरे को देने के लिए भी तैयार रहे। इसीका नाम न्याय है, कानून द्वारा इसीकी रक्षा की जाती है। इस प्रकार, व्यक्ति समता के आधार पर स्वय एक अनुशासन मे वध जाता है, जो जीवन के लिए आवश्यक है।

४. विकास का अवसर—मानव और मानव मे मौलिक समानता होने पर भी स्वाभाविक भेद की उपेक्षा नही की जा सकती। एक व्यक्ति प्रतिभाशाली है और विज्ञान, दर्शन या किसी उच्च विद्या को प्राप्त करना चाहता है। दूसरा भावुक हृदय है और कला से प्रेम करता है, तीसरा पहलवान बनना चाहता है और चौथा धनवान। सबको एक ही मार्ग पर नही चलाया जा सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि

प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में विकास करने का अवसर मिले और उचित सुविधाए प्राप्त हो।

५. शांतिप्रियता—पाचवा तत्त्व शातिप्रियता है। इसका अर्थ है मतभेद खडा होने पर उसे शांतिपूर्वक निपटाने की भावना। जहातक हो सके, युद्ध तथा हिंसात्मक उपायो से बचना।

मानवता का पुनर्निर्माण दो प्रकार से हो सकता है, सस्थाओ द्वारा और वैयक्तिक रूप से। एकतत्रीय शासन मे ऐसी सस्थाए अधिनायक द्वारा खडी की जाती हैं। उसे साधारण जनता की जमी हुई भावनाओ पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है, किन्तु लोकतत्रीय शासन मे ऐसी सस्थाओ की स्थापना सरल नही होती। वहा जनता किसी ऐसे कार्य को नही करने देती जो एकदम क्राति ला सके, वहा राज्य को क्राति के स्थान पर क्रमिक-विकास का मार्ग अपनाना होता है। लोकतन्त्रीय शासन मे क्राति लाना व्यक्तियो का ही काम है।

वस्तुत, देखा जाय तो क्रान्ति या सुधार व्यक्तियो द्वारा ही होते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म, समाज, राजनीति, विज्ञान आदि प्रत्येक क्षेत्र मे एक ही व्यक्ति ने धारा को बदल दिया। प्रचलित पद्धति के दोष जैसे-जैसे जनता के सामने आयगे, वह उस क्रान्तिकारी का साथ देगी।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक कैरल का कथन है—"वर्तमान सभ्यता ने मानव को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी दृष्टियो से कुण्ठित कर दिया है। हमे उसका उद्धार करना है। समस्त शक्तियो का विकास करके उसे स्वस्थ बनाना है, विशृखलित व्यक्तित्व मे एकसूत्रता लानी है, और आत्मा की समस्त शक्तियो का उपयोग करने का पाठ सिखाना है। शिक्षा-प्रणाली तथा सामाजिक वातावरण ने जो आवरण डाल रखे है उन्हे हटाना है। जमी हुई धारणाओ और पद्धतियो को तिलाञ्जलि देकर नई पद्धति अपनानी है। मानसिक तथा शारीरिक हलचलो के अधिष्ठान की खोज करनी है। इन्ही वृत्तियो का नाम मानव है, किन्तु वह स्वतन्त्र या विश्व से पृथक नही है। विश्व की गतिविधि का उसपर प्रभाव पडता रहता है, उसका पुनर्निर्माण करने के लिए विश्व को

बदलना होगा। सामाजिक ढाचे तथा भौतिक एव मानसिक पृष्ठ-भूमि की पुन रचना करनी होगी।"

समाज-यन्त्र को बदलना सरल नही है। फिर भी उसके लिए प्रयत्न तो करना ही होगा। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन बदलना चाहिए। वह अपने चारो ओर ऐसा वातावरण बना सकता है, जो विचारहीन सर्वसाधारण की जीवन-पद्धति से कुछ भिन्न हो। अपने शरीर तथा बुद्धि पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए ऐसे अनुशासन तथा जीवन-व्यवहार को अपना सकता है, जो दूसरो से भिन्न हो, किन्तु अकेला रहकर वह सामाजिक वातावरण को नही बदल सकता। इसके लिए समान विचारवाले अन्य व्यक्तियो से सहयोग करना होगा। क्रान्तिया प्राय छोटे-छोटे सगठनो से प्रारम्भ होती हैं, वही पर नये विचार जन्म लेते हैं और पनपते है। १८ वी शताब्दी मे इस प्रकार के सगठनो ने फ्रासीसी साम्राज्यवाद को समाप्त कर दिया।

वर्तमान यन्त्रवाद ने मनुष्य को दवा रखा है। उसके विरुद्ध सघर्ष राजकीय क्रान्तियो से भी अधिक कठोर है। उसने मनुष्य को आलसी तथा विलासी वना दिया है। जिस प्रकार अफीम, मदिरा या भाग का नशा छोडना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार मानवता के लिए इन सुखो को छोडना कठिन हो रहा है, वे उसका स्वभाव वन चुके है। दूसरी ओर, शिक्षा-प्रणाली उन्हे प्रोत्साहन दे रही है। इनसे छुटकारा पाने के लिए तपस्वी विचारको को अपने छोटे-छोटे सगठन करने होगे और सर्वसाधारण को धीरे-धीरे सत्य की ओर आकृष्ट करना होगा।

यदि सगठनो के सदस्य ऋषि-मुनियो के समान नये स्वस्थ जीवन का आदर्श उपस्थित करेगे तो जनता अवश्य उनकी ओर आकृष्ट होगी। मानवता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर कुछ व्यक्ति सामाजिक जीवन मे असतुष्ट होकर उससे पृथक हो गए। उन्होने नई जीवन-पद्धति अपनायी। सर्वसाधारण को नया सन्देश दिया और वह सामाजिक धारणाओ को वदलने मे सफल हो गए। वे ही मानवता के निर्माता है। वे कही सन्त के रूप मे प्रकट हुए, कही राजनीतिक क्रान्तिकारी के रूप मे और कही दार्शनिक या कलाकार के रूप मे।

कैरल ने अपनी पुस्तक 'अज्ञात मानव' के अन्त मे लिखा है—"पुनर्निर्माण का समय आ गया है। इसके लिए किसी प्रकार का कार्यक्रम निश्चित करना ठीक नही होगा, क्योकि इसका अर्थ है, जीवित सत्य को कठोर बन्धन मे जकडना। इससे भविष्य हमारी कल्पना मे सीमित हो जायगा और उन लाभो से वचित होना पडेगा जो उससे परे हैं।"

हमे खडे होकर आगे बढना चाहिए। यन्त्रवाद के बन्धनो से मुक्त होकर अपनी आन्तरिक शक्तियो को पहचानना चाहिए। मनुष्य में कितनी शक्ति है, उसका क्या लक्ष्य है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इन बातो का पता मानवीय विद्याए लगा चुकी है। किन्तु हम भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत जगत मे विचरण कर रहे है और निजी विकास को भूल गए है। वास्तव मे देखा जाय तो यह जगत हमारे मिथ्या-ज्ञान और आत्म-विस्मरण का परिणाम है। यह हमारे लिए नही है। इस प्रकार का जीवन हमारा स्वभाव नही बन सकता। इसके विरुद्ध क्रान्ति करनी होगी। मूल्याकन की वर्तमान धारणाओ को बदलकर नयी धारणाए बनानी होगी। मानव-विज्ञान यह बताता है कि हम अपना सर्वतोमुखी विकास कैसे कर सकते है? हम अपनी शरीरिक तथा मानसिक हलचल और दुर्बलताओ के कारणो को समझने लगे है। यह जान गए है कि प्राकृतिक नियमो का उल्लघन कहा हुआ है, हमे दण्ड क्यो मिल रहा है? हम अधेरे मे क्यो भटक रहे है? फिर भी मुक्ति का मार्ग स्पष्ट नही है, केवल उसका धुधला आभास मिल रहा है।

वर्तमान सभ्यता विनाश की ओर बढ रही है। साथ ही अपने पतन के कारणो को प्रकट कर रही है। उसके पास विज्ञान की अपार शक्ति है। क्या हम इस ज्ञान और शक्ति का उचित उपयोग कर सकेंगे? हमारा भविष्य हमारे हाथो मे है। हमे नया मार्ग अपनाना होगा।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता तथा परस्पर व्यवहार मे समता और मित्रता को स्थापित करने के लिए नीचे लिखी बातो की आवश्यकता है·

१ प्रत्येक व्यक्ति को समान नागरिक अधिकारो का आश्वासन।

२ मताधिकार।

३ सार्वजनिक नीति निर्धारण मे प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप

मे सम्मिलित होना ।

४ शिक्षा ।

५ निम्नतम जीवन-स्तर की स्थापना, और उसका सभी को प्राप्त होना ।

६ वर्तमान सभ्यता ने जो विकास किया है उससे लाभ प्राप्त करने के समुचित अवसर प्राप्त होना ।

७ ऐसे नियमो का निर्माण, जिससे लाभ या प्रतिष्ठा का एकत्र सचय न हो ।

जबतक यह निश्चय नही होता कि विषमता का कारण कहातक समाज है और कहातक, स्वय व्यक्ति, तबतक इस आधार पर लाभ मे परस्पर भेद का समर्थन नही किया जा सकता ।

: ३ :

स्वतन्त्रता

लोकतन्त्र की दूसरी मूल-भावना स्वतन्त्रता है । जो व्यवस्था मानव की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करती है उसे इस बात का ध्यान रखना होगा कि अन्य कोई तत्त्व मानवता को दबाने न पाये । जब धर्म, समाज, राजनीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कोई परम्परा मनुष्य को दबाने लगती है तो वहा वह मुख्य हो जाती है और मानव गौण हो जाता है । और उसकी सर्वश्रेष्ठता पर आघात होने लगता है ।

जो बात परतन्त्र होने पर अवगुण कही जाती है, वही स्वतन्त्र होने पर गुण बन जाती है । परतन्त्रअवस्था मे कष्ट एव अत्याचार है, उसमे देनेवाले और सहन करनेवाले दोनो का पतन होता है । किन्तु स्वतन्त्र होने पर वही तपस्या या साधना बन जाता है, जो प्रगति का सोपान है । परतन्त्र अवस्था में प्राप्त हुआ सुख सुख नही रहता और स्वतन्त्र होने पर दुख भी उल्लास बन जाता है ।

स्वतन्त्रता मानव का स्वभाव है। उसे प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। अन्य सभी तत्त्व उसकी रक्षा एव वृद्धि के लिए है। उनकी उपादेयता अथवा मूल्याकन का एकमात्र यही आधार है। यदि वे मानव की स्वतन्त्रता मे सहायक है तो उपादेय है। बाधक बनने पर वे ही हेय हो जाते है। यह बाधा कही शारीरिक होती है, कही मानसिक, कही बौद्धिक और कही आध्यात्मिक।

ऐसा भी देखा गया है कि एक स्वतन्त्रता दूसरी स्वतन्त्रता मे बाधा डालने लगती है। ऐसी स्थिति मे उनके मूल्याकन एव तारतम्यता का निश्चय करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के रूप मे आर्थिक स्वतन्त्रता का अधिक महत्त्व है, उससे भी अधिक मानसिक स्वतन्त्रता का, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सबसे अधिक महत्त्व है।

लोकतन्त्र मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्या स्थान है, इस प्रश्न को लेकर विचारको मे पर्याप्त मतभेद है। एक ओर अधिनायकवादियो का कथन है कि राज्य का हित सर्वोपरि है, और उसके सामने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नही है। दूसरा मत है कि लोकतन्त्र मे व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। रूसी साम्यवाद का आक्षेप है कि आर्थिक स्वतन्त्रता मिलने पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करने लगता है, और स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। अत, आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का नियन्त्रण रहना आवश्यक है। दूसरी ओर, अमरीका तथा यूरोप के लोकतन्त्रीय राष्ट्रो का कथन है कि आर्थिक तथा बौद्धिक क्षेत्र मे व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इसके बिना प्रतिभा और उत्साह पनपने नही पाते और व्यक्तित्व नही खिलते। इस प्रकार हम देखते है कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था होने पर भी एक राज्य अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देना चाहता है, दूसरा कम-से-कम और तीसरा बिलकुल नही। इन विचारो का समन्वय करने के लिए एक ओर उन धारणाओ को समझना होगा जो लोकतन्त्र की व्याख्या मे मूल प्रेरक है, अर्थात जिन्हे लक्ष्य मे रखकर विचारको ने लोकतन्त्र की व्याख्या की है। दूसरी ओर, उस परिस्थिति को ध्यान मे रखना होगा, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप मे विभिन्न लोकतन्त्रो का जन्म

हुआ। इगलैड, अमरीका, रूस आदि देशो मे लोकतन्त्रीय व्यवस्था है। किन्तु जिस अव्यवस्था या असन्तोप को दूर करने के लिए इसका जन्म हुआ, वह सर्वत्र एक-सी नही है। रूस मे लोकतन्त्र का विकास ज़ार-शाही की प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। एक ओर सम्पन्न वर्ग था, जो उत्तरोत्तर समृद्ध एव शक्तिशाली वनता जा रहा था। दूसरी ओर मजदूर थे, जो उत्तरोत्तर दरिद्र तथा दुर्वल होते जा रहे थे। विचारको ने इस वर्ग का नाम सर्वहारा रखा है। शोपित वर्ग ने शोषक के विरुद्ध क्रान्ति की, और साम्यवाद की स्थापना हुई। वहा शोषण का मुख्य आधार विषमतापूर्ण अर्थ-व्यवस्था थी। नई राज्य-व्यवस्था ने उसे समाप्त कर दिया। अमरीका तथा यूरोपीय देशो मे लोकतन्त्र का विकास एकतन्त्रीय सत्ता के विरुद्ध सघर्ष मे हुआ। शासक के अधिकार क्रमश. घटते चले गए और सत्ता जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियो के हाथ मे आ गई। इगलैड और फास मे धर्म-सस्था तथा राज्य-सस्था मे गठवन्धन हो गया। दोनो ने मिलकर सर्वसाधारण के मानस एव शरीर दोनो पर प्रभुत्व जमा लिया। सर्वसाधारण ने इसके विरुद्ध क्रान्ति की और स्वतन्त्रता प्राप्त की। यह सघर्ष आर्थिक दृष्टि से शोषित जनता का न होकर मानसिक जागरण था।

स्वतन्त्र उद्योगवादी राष्ट्रो का कथन है कि व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ एव वुद्धि-वल द्वारा उन्नति करने का पूर्ण अधिकार है। उसकी इस स्वतन्त्रता का अपहरण नही होना चाहिए। दूसरी ओर, साम्यवाद का कथन है कि व्यक्ति का वौद्धिक अथवा शारीरिक दृष्टि मे निर्वल होना अपराध नही है। यदि वलवान उसके जन्मसिद्ध जीने के अधिकार पर प्रहार करता है तो उसपर नियन्त्रण होना ही चाहिए। विकास की जो सुविधाए सम्पन्न वालक को प्राप्त होती है, वे दरिद्र को नही मिलती, और इसके लिए वह स्वय उत्तरदायी नही है। फिर भी उसका विकास के अवसरो से वंचित रहना अन्याय है। चोर, डाकू, हत्यारे आदि समाज-विरोधी तत्त्वो को स्वतन्त्रता के नाम पर मनमानी करने का अधिकार नही दिया जा सकता। पूजीवाद भी इसी प्रकार का अप-हरण है, जो राज्य का आश्रय प्राप्त करके पनपता है। इतने मात्र मे

उसे न्याय नही कहा जा सकता। धार्मिक क्षेत्र मे भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार धर्माराधन का अधिकार है। किन्तु एक की आराधना दूसरे के जीवन एव अधिकार पर प्रहार करनेवाली नही होनी चाहिए। उदाहरण के रूप मे, यदि कोई देवता या धर्म के नाम पर मनुष्य का बलिदान करना चाहता है तो उसे यह अधिकार नही है। इसी प्रकार जो विश्वास हिसा को प्रोत्साहन देता है या आतक फैलाता है, उसपर नियन्त्रण करना आवश्यक है। किन्तु यदि हम अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करते है और दूसरे पर प्रहार नही करते, फिर भी दूसरे को आघात लगता है, तो इसपर प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता।

उपनिषदो की परिभाषाए साम्यवादी शासन-व्यवस्था "अन्नमय और प्राणमय" दो कोशो को महत्त्व देती है। यहा जीवन का अर्थ है—स्थूल शरीर और प्राण। स्वतन्त्रता का अर्थ भी यहीतक सीमित है। अर्थात किसीके स्थूल शरीर को बाधकर रखना, काटना या अन्य प्रकार से क्षति पहुचाना तथा भूख-प्यास अथवा अन्य प्रकार से उसकी जीवन-क्रिया मे बाधा डालना स्वतन्त्रता का अपहरण है। इसके विपरीत, उसकी इच्छाओ, विचारशक्ति तथा आतरिक अनुभूतियो पर नियत्रण करना बुरा नही है। प्राचीन राज्य-व्यवस्था मे भी स्वतन्त्रता का यही अर्थ किया जाता था। राजनीति की परिभाषा मे इस स्वतन्त्रता का अपहरण करना ही अपराध है। धर्म-सस्था अतरात्मा को अधिक महत्त्व देती है, और उनके विकास के लिए शरीर, इन्द्रिय तथा मन पर नियन्त्रण रखना बुरा नही मानती। इतना ही नही, उसे आवश्यक समझती है। इसका कथन है कि आन्तरिक स्वतन्त्रता के लिए बाह्य स्वतन्त्रता का अपहरण हानिकारक नही है। किन्तु यह अपहरण या नियन्त्रण स्वेच्छा-पूर्वक होना चाहिए, बल-प्रयोग द्वारा नही। विज्ञानमय कोश अर्थात बुद्धि के लिए भी उसकी मान्यता है कि यदि वह मनोमय कोश के अधीन है अर्थात विचारशक्ति इच्छाशक्ति की दासी है, मन मे जो इच्छित अनुकूल एव प्रतिकूल सकल्प उठते है, यदि बुद्धि उनका समर्थन कर रही है तो उसके दिशा-परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति मे उसे वहा

से हटाकर आनन्दमय कोश की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। मन वुद्धि के हाथ मे रहना चाहिए, वुद्धि मन के हाथ मे नही। उसे एकमात्र आत्म-हित को लक्ष्य मे रखकर प्रवृत्त होना चाहिए। समाज-सस्था पाचों कोशो को उचित प्रश्रय देना चाहती है। उसके मतानुसार सभी मे परस्पर समन्वय होना चाहिए। तभी शक्तिशाली व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। जहातक आदर्श का प्रश्न है—पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य धर्म-सस्था द्वारा ही पूरा हो सकता है। शेप सस्थाए यदि उस लक्ष्य को सामने रखकर उस ओर वढ रही हैं तो कल्याणकारी हैं। विमुख होने पर वे ही अमगल वन जाती हैं।

लोकतन्त्रीय शासन मे सभी को नीचे लिखी स्वतन्त्रताए प्राप्त है

१ जीवन की स्वतन्त्रता,

२ विचारो की स्वतन्त्रता,

३ भापण की स्वतन्त्रता,

४ विश्वास तथा धर्माराधन की स्वतन्त्रता,

५. उद्योग की स्वतन्त्रता।

१. जीवन की स्वतन्त्रता : मूल्याकन की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान उस स्वतन्त्रता का है, जिसके विना अन्य सव स्वतन्त्रताए व्यर्थ हो जाती है। यह स्थान जीवन का है। धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि समस्त स्वतन्त्रताओ का मूल्य तभीतक है जवतक जीवन है। सभी क्षेत्रो मे इसे अन्तिम लक्ष्य माना गया है। धार्मिक क्षेत्र में दूसरे के जीवन का अपहरण तथा दमन पाप है; सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र मे अपराव और आर्थिक क्षेत्र मे शोपण। कला, साहित्य आदि क्षेत्र भी जीवन-विकास को ही अपना लक्ष्य मानते हैं।

किन्तु जीवन शब्द अपने-आपमे अस्पष्ट है। साधारणतया समस्त व्यक्तित्व को जीवन मे सम्मिलित कर लिया जाता है, और उसमे सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य अस्मिताए भी आ जाती है। किन्तु लोकतन्त्र मे जीवन का अर्थ स्थूल शरीर तथा प्राण हैं। जव एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विचारो का खंडन करता है और उसमे उसके अहकार को ठेस पहुचाती है, तो लोकतन्त्र इसपर प्रतिवन्ध नही लगाता। धर्म,

राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसे उदाहरण भी मिलते है, जहा व्यक्ति सिद्धान्त या भावनाओ की रक्षा के लिए शरीर का बलिदान कर देता है। किन्तु ऐसा करना उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। जहातक एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति के नियन्त्रण का प्रश्न है, वहा स्थूल जीवन को ही प्राथमिकता दी जायगी।

साम्यवाद जीवन की इसी परिभाषा को लक्ष्य मे रखकर बौद्धिक तथा मानसिक क्षेत्र पर नियन्त्रण को बुरा नही समझता। उद्योग एव विचारो की स्वतन्त्रता का समर्थन करनेवाले राष्ट्र भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है और इसके लिए उसे सरक्षण प्राप्त होना ही चाहिए, अर्थात किसी व्यक्ति या वर्ग को यह छूट नही मिलनी चाहिए कि जीवन की अनिवार्य सामग्री को, अत्याचार अथवा शोषण, किसी भी रूप मे छीन सके। राज्य-सस्था जब अपराधी को फासी पर लटकाती है तो वहा उसका यह कथन है कि अपराधी अपराध द्वारा अपने जीने के अधिकार को स्वय खो देता है। अर्थात जो व्यक्ति यह चाहता है कि उसका जीने का अधिकार सुरक्षित रहे, उसे दूसरे के इस अधिकार का सम्मान करना होगा। दूसरे के इस अधिकार पर प्रहार करनेवाला अपने अधिकार का दावा नही कर सकता है। वह उसे स्वयं खो देता है।

धार्मिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का नाम अहिंसा है। इसका अर्थ है दूसरे के सुखपूर्वक जीने के अधिकार को उतना ही महत्त्व देना, जितना अपनेको दिया जाता है। सामाजिक क्षेत्र मे इसीको सभ्यता कहते है। इसका अर्थ है, जो व्यवहार तुम्हे अप्रिय लगता है वह दूसरे के साथ न करो। राजनैतिक क्षेत्र मे इसे नागरिकता कहा जायगा, जहा एक नागरिक दूसरे नागरिक के अधिकारो का सम्मान करता है। कला के क्षेत्र मे इसका अर्थ है अनुभूति के उस स्तर पर पहुचना, जहा एक अनुभूति दूसरे की अनुभूति से पृथक नही रहती।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जहा व्यक्ति अन्तर्द्वन्द्व या किसी महत्त्वाकाक्षा के कारण स्थूल जीवन का परित्याग करने के लिए तैयार हो जाता है, वहा उसे ऐसा करने का कहातक अधिकार है ? इस

प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए स्वेच्छापूर्वक किये जानेवाले जीवन-परित्याग को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है —१ आत्महत्या और २ आत्मबलिदान। आत्महत्या का मुख्य कारण निराशा है। जब रोग, असफलता या किसी अन्य सकट के कारण जीवन असह्य हो जाता है और भविष्य मे कोई आशा नही दिखाई देती, तो व्यक्ति आत्महत्या के लिए तैयार हो जाता है। निराशा अज्ञान का ही एक रूप है और प्रत्येक कल्याणकारी सस्था का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि व्यक्ति को अज्ञान से होनेवाले विनाश से बचाये। माता यदि बालक को आग मे हाथ डालने या हानिकारक वस्तु खाने से रोकती है तो यह स्वतन्त्रता का अपहरण नही है। आत्महत्या भी इसी प्रकार की अज्ञान-मूलक प्रवृत्ति है। धर्म की दृष्टि मे यह महापाप है और राजनीति की दृष्टि में अपराध। स्वतन्त्र व्यक्तित्व की दृष्टि से यह कायरता है, जहा व्यक्ति सकटो के सामने साहस खोकर सघर्ष बन्द कर देता है और शीघ्र छुटकारा प्राप्त करना चाहता है। इसपर नियन्त्रण होना लोकतन्त्रीय भावना के विरुद्ध नही है।

स्वेच्छापूर्वक प्राण-परित्याग का दूसरा रूप आत्म-बलिदान है। वहा व्यक्ति किसी उच्चतर लक्ष्य को सामने रखकर बढता चला जाता है, और सकटो की परवाह नही करता। वहा मृत्यु लक्ष्य नही होती, किन्तु वह सकट के रूप मे आती है और व्यक्ति साहस के साथ उसका सामना करता है। ऐसी मृत्यु को प्रत्येक क्षेत्र मे आदर्श माना गया है। आत्महत्या मे परिस्थितिया जीवन-परित्याग के लिए विवश कर देती है, वह एक प्रकार का अपहरण है। किन्तु यहा किसी प्रकार की विवशता नही रहती। व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी उच्चतम लक्ष्य के लिए अपने जीवन का विनियोग करता है।

२. **विचारो की स्वतन्त्रता :** जीवन के पश्चात विचारो की स्वतन्त्रता आती है। इसका अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि से सोचने और निर्णय करने का पूर्ण अधिकार। इस विषय मे प्राचीनकाल से दो मत चले आ रहे है और वे प्रत्येक क्षेत्र पर छाये हुए है। पहला मत यह है कि सर्वसाधारण अपने भले-बुरे को नही समझता। अतः उसे निर्णय

करने का अधिकार नही देना चाहिए। दूसरा मत प्रत्येक व्यक्ति को इस क्षेत्र मे भी समान अधिकार देना चाहता है। धार्मिक जगत मे वैदिक परम्परा ने पहले मत को प्रस्तुत किया और श्रमण परम्परा ने दूसरे को। राजनीति मे साम्राज्यवाद एव साम्यवाद प्रथम मत के समर्थक है। लोकतन्त्र दूसरे मत का समर्थन करता है। सामाजिक क्षेत्र मे भी एक वर्ग रूढियो का समर्थक है, और दूसरा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का।

जहातक सगठन का प्रश्न है, प्रथम मत अधिक उपयोगी है। प्राय. सगठनो का मुख्य बल अन्ध-श्रद्धा होती है। किन्तु सगठन व्यक्ति के लिए होते है, व्यक्ति सगठन के लिए नही होता। माता असहाय बालक की रक्षा करती है। किन्तु यदि वह उसपर इतनी छा जाय कि बालक का विकास ही रुक जाय तो मातृत्व का उद्देश्य लुप्त हो जाता है। सगठन का ध्येय है, दुर्बल व्यक्तित्व की रक्षा करना और धीरे-धीरे उसे समर्थ एव शक्तिशाली बनाना। किन्तु यदि वह उसपर सदा छाया रहेगा तो व्यक्तित्व का पनपना असम्भव है। सगठन साधन है, साध्य नही।

लोकतन्त्र का कथन है कि किसी व्यक्ति के मनमे यह भावना नही आनी चाहिए कि उसपर दूसरे के विचार लादे जारहे है। यहा एक प्रश्न उठता है। सबका ज्ञान एक-सा नही होता। व्यक्ति जिस बात को नही जानता, क्या उस विषय मे भी उसे स्वतन्त्र-निर्णय का अधिकार है ? इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए हमे लोकतन्त्रीय भावना पर ध्यान देना चाहिए। ज्ञान ही नही, प्रत्येक क्षेत्र मे व्यक्ति अपने-आप मे अपूर्ण है और उसे दूसरे के सहयोग की आवश्यकता है। किन्तु यदि सहयोग ऊपर से लादा जाता है तो वह अन्याय या अत्याचार हो जाता है। यहातक कि मनोरजन मे भी यदि बल-प्रयोग किया जाय तो वह मनोरजन नही रहता। इसी प्रकार, जब कोई अपनी अल्पज्ञता का अनुभव करता है और किसी बात को समझने के लिए दूसरे की सहायता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे यह सहायता मिलनी ही चाहिए। इसे विचारो का हनन नही कहा जा सकता। किन्तु दूसरे की समझ मे न आने पर भी जब एक व्यक्ति अपना निर्णय उसपर लादना चाहता है तो यह विचारो की हिंसा है, और लोकतन्त्रीय भावना के प्रतिकूल है।

जहा विचारो की स्वतन्त्रता जीवन की स्वतन्त्रता पर आघात करती है वहा मुख्यता जीवन को दी जायगी। इसी आधार पर साम्यवाद ने विचारो पर नियन्त्रण का समर्थन किया। किन्तु वह अपनी सीमा को पार कर गया और व्यक्तित्व का दमन करने लगा। जीवन की प्राथमिकता होने पर भी उसके नाम पर अनुचित नियन्त्रण नही होना चाहिए।

३ भाषण की स्वतन्त्रता. विचारो के पश्चात भाषण का स्थान है। लोकतन्त्र का विकास विचारो के आदान-प्रदान द्वारा होता है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र होकर अपने विचार प्रकट करने का अधिकार मिलना चाहिए। जैन-दर्शन का कथन है कि प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते है, और व्यक्ति अपने स्वार्थ या सस्कारो के अनुसार किसी एक को महत्त्व देने लगता है। किन्तु इससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही हो पाता। सचाई जानने के लिए अधिक-से-अधिक पहलुओ को विचार मे लाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जबकि सभीको अपना-अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने का अवसर दिया जाय।

विचारो के समान अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी दो मत है। एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का समर्थन करता है और दूसरा उसपर नियन्त्रण आवश्यक मानता है। वास्तव मे देखा जाय तो अभिव्यक्ति पर भी वही नियन्त्रण होना चाहिए, जहा वह हिंसा को प्रोत्साहन देती है अर्थात दूसरे के जीवन पर प्रहार करती है।

इसी प्रकार ऐसे भाषणो पर भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है जो सार्वजनिक हित के प्रतिकूल हो। उदाहरण के रूप मे संकटकाल मे समस्त शक्तियो को एक ही दिशा मे लगाना आवश्यक हो जाता है। यदि कोई उस समय जनता को असहयोग के लिए उभारता है तो वह सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। उसपर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है। किन्तु शान्तिकाल मे भी उन प्रतिबन्धो को जारी रखना उचित नही कहा जा सकता।

४ विश्वास तथा धर्माराधन की स्वतन्त्रता : चौथी स्वतन्त्रता आध्यात्मिक जगत से सम्बन्ध रखती है। व्यक्ति प्राचीनकाल मे

अतीन्द्रिय तत्त्वो मे विश्वास करता आरहा है, और यह विश्वास उसके जीवन एव व्यक्तित्व को ऊचा उठाने मे सहायक सिद्ध हुआ है। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि इसने व्यक्तित्व का दमन किया और मनुष्य को पथ-भ्रष्ट किया। विश्वासो की आपसी टक्करे भी हुई और दूसरे को तलवार के वल पर मोक्ष पहुचाने का प्रयत्न भी किया गया। लोकतन्त्र का कथन है कि इस क्षेत्र मे भी व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड दिया जाय। श्रद्धा जीवन का वलशाली तत्त्व है जो आगे वढने की प्रेरणा देता है। किन्तु वह जव अपने-आप विकसित होता है तभी उसमे जीवन रहता है। ऊपर से लादी गई निर्जीव श्रद्धा जीवन को विषाक्त वना देती है।

प्राचीन तथा मध्य युग मे धर्म जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है। जव ईसाई और मुसलमान धर्म को माननेवाले शासको ने आक्रान्त जनता पर अपने विश्वासो को जवरदस्ती लादना शुरू किया तो उसकी आन्तरचेतना पर कठोर आघात लगा। इसकी उग्र प्रतिक्रिया हुई, जो धर्म-सस्था का क्रूर अभिशाप है। उसीको सामने रखकर वर्तमान मानव धर्म से अश्रद्धा करने लगा है। वह उसके वादो को प्रवचना मान रहा है। लोकतन्त्र का कथन है कि इस क्षेत्र मे भी सवको स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उसपर नियन्त्रण तभी होना चाहिए जव विश्वास हिंसा लिये हुए हो।

भारत ने सविधान द्वारा अपने लौकिक राज्य (Secular State) होने की घोषणा की है। इसका इतना ही अर्थ है कि ईश्वर, पूजा-पद्धति, अतीन्द्रिय तत्त्वो मे विश्वास आदि वातो के विषय मे राज्य किसी विशेष परम्परा को नही अपनायगा। इसका यह अर्थ नही है कि वह धर्म-विरुद्ध है। जिस प्रकार धर्म का सार-सदाचार या जीवन-शुद्धि है, उसी प्रकार भारतीय गणराज्य भी इस वात को सर्वोपरि मानता है, किन्तु इसके लिए परम्परा-विशेष को प्रश्रय नही देना चाहता। व्यक्ति इच्छानुसार किसी भी परम्परा को चुनकर अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यही धार्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ है। यहा न किसीपर प्रतिवन्ध लगाया जाता है और न कोई परम्परा जवरदस्ती लादी जाती है।

५. औद्योगिक स्वतन्त्रता : व्यक्ति मे दो मूल प्रेरणाए कार्य करती है। पहली प्रेरणा सरक्षण या अपने अस्तित्व की रक्षा है। प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि दृष्टियो से अपनेको अधिक-से-अधिक सुरक्षित बनाना चाहता है। दूसरी प्रेरणा अहकार की है। प्रत्येक व्यक्ति, विद्या, धन-सम्पत्ति, राजकीय सत्ता, कला आदि के द्वारा दूसरो से आगे बढना चाहता है। प्रत्येक प्रयत्न मे पहले सरक्षण की भावना काम करती है, और धीरे-धीरे वही अहकार का रूप ले लेती है। औद्योगिक क्षेत्र इस नियम का अपवाद नही है। जहातक सरक्षण एव मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रश्न है, उद्योग के विपय मे दो मत नही है। किन्तु जब उसके द्वारा वर्ग-विशेप का शोपण होने लगता है तो उसकी उपयोगिता विवादास्पद बन जाती है। साम्यवाद का कथन है कि व्यक्ति को औद्योगिक स्वतन्त्रता नही मिलनी चाहिए क्योकि शोषण इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। दूसरी ओर स्वतन्त्र उद्योग-वादी राष्ट्रो का कथन है कि सम्पत्ति का आकर्पण जीवन की बहुत बडी प्रेरणा है। उसको लक्ष्य मे रखकर व्यक्ति का पुरुपार्थ पनपता है, और प्रतिभा का विकास होता है। परिणामस्वरूप, नये-नये आविष्कार होते है, जो सार्वजनिक सुख की वृद्धि करते है। अत स्वतन्त्र उद्योग पर प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए। जहातक शोपण का प्रश्न है, इसके लिए श्रमिक वर्ग को मौलिक सरक्षण दिया जा सकता है। उसके लिए प्रतिभा एव पुरुपार्थ का दमन करना उचित नही है। इसका अर्थ होगा राष्ट्र की प्रगति को रोकना। लोकतन्त्र शोपण को रोकना चाहता है। साथ ही व्यक्तित्व का दमन नही चाहता।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रता

उपरोक्त बातो के अतिरिक्त कला, साहित्य, दर्शन आदि क्षेत्रो मे भी व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। प्रतिबन्ध वही लगाना चाहिए, जहा उनमे हिसा, व्यभिचार या अन्य सामाजिक दोपो को प्रोत्साहन मिलता हो।

स्वतन्त्रताओ का परस्पर संघर्ष

यहा एक प्रश्न और है। धर्म, राजनीति, समाज आदि प्रत्येक क्षेत्र अपनी-अपनी स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। धर्म अहिंसा का प्रतिपादन करता है और राज्य-सस्था शत्रु पर हिंसक आक्रमण के लिए कहती है। इसी प्रकार धर्म अपना स्वार्थ छोडकर भी दूसरे का स्वार्थ पूरा करने के लिए कहता है। किन्तु अर्थशास्त्र इसके विरुद्ध प्रतिपादन करता है। वहा अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के स्वार्थ का अपहरण बुरा नही माना गया। एक वर्ग धर्म को महत्त्व देता है, दूसरा समाज को, तीसरा राज्य-सस्था को और चौथा आर्थिक उन्नति को। इसी आधार पर स्वतन्त्रताओ की प्राथमिकता के विषय मे भी अनेक मत हो गये है, और वर्तमान मानव उलझन मे पड गया है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सर्वोदय या व्यापक हित को सामने रखकर चलना होगा, अर्थात जो स्वतन्त्रता सभीके कल्याण को लिये हुए है, जिसमे किसीका अकल्याण नही है, वह सर्वोपरि है। यह स्वतन्त्रता धर्म का लक्ष्य है। अन्य स्वतन्त्रताए जब इसमे सहायक हैं तो उपादेय है, अन्यथा हेय। राज्य, समाज तथा अर्थ अपने-आपमे लक्ष्य नही हैं। वे अविकसित व्यक्ति के लिए तात्कालिक समाधान है। उनकी तरतमता परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। सबका मापदण्ड आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता शब्द प्राय समानार्थक माने जाते है और एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग हो रहा है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर इनका परस्पर भेद स्पष्ट होने लगता है। स्वाधीनता शब्द का अर्थ है, व्यक्ति का किसी दूसरे पर निर्भर न होना। आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक या राजनैतिक किसी भी दृष्टि से जबतक एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर निर्भर है, तबतक उसका विकास नही हो पाता। उसकी शक्तिया दबी रहती है। यह ठीक है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और परस्पर सहयोग के बिना काम नही चलता। किन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि दोनो एक-दूसरे के सहायक है। स्वाधीनता को वही

आघात लगता है जहा एक व्यक्ति का जीवन दूसरे व्यक्ति की कृपा पर निर्भर है। जहा एक को दूसरे पर मनमानी करने का अधिकार मिल जाता है, और दूसरा यदि स्वतन्त्र होना चाहता है तो उसके लिए भूखा मरने के अतिरिक्त कोई चारा नही रहता। इस प्रकार की पराधीनता प्रत्येक दृष्टि से हेय है और लोकतन्त्र यह मानता है कि एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का अधिकार होना अनुचित है। उसकी दृष्टि मे स्वाधीनता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होना चाहिए। पराधीनता प्रत्येक दृष्टि से बुरी है। इसके विपरीत, स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट। इसमे दूसरे पर निर्भर होने का प्रश्न नही है। जब यह छूट दूसरे की स्वतन्त्रता का हनन करती है तभी उस-पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे इन्ही प्रतिबन्धो को धर्म कहा गया है। सामाजिक क्षेत्र मे सदाचार और राजनैतिक क्षेत्र मे कानून, इन प्रतिबन्धो के विधि तथा निषेध दोनो रूप होते हैं। निषेधात्मक रूप मे ऐसे कार्यो को रोका जाता है, जो दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करते है। विधि रूप मे व्यक्ति पर कर्तव्य-भार या उत्तर-दायित्व डाला जाता है, जिसके बिना वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा नही कर सकता। उसे अपने सरक्षण एव भरण-पोषण के लिए पराधीन बनना पड़ता है।

धर्म, समाज तथा राजनीति—प्रत्येक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का अर्थ है ऐसे नियन्त्रण का अभाव, जिसे मनुष्य अपने लिए अनुचित समझता है या जो उसकी समझ से परे है। उपरोक्त क्षेत्रो मे यह नियन्त्रण उत्तरो-त्तर कठोर होता चला गया है। उदाहरण के रूप मे, एक व्यक्ति को कहा जाता है कि वह शूद्र का छुआ हुआ अन्न ग्रहण न करे और भय बताया जाता है कि यदि ऐसा करेगा तो परलोक मे नरक के दु ख भोगने पडेगे। श्रद्धालु श्रोता इस कथन के सत्यासत्य का निर्णय नही करता। फिर भी उसे स्वीकार कर लेता है, क्योकि जिस पुस्तक मे यह लिखा है या जो व्यक्ति ऐसा कह रहा है उसे वह आदर की दृष्टि से देखता है। यहा बौद्धिक स्वतन्त्रता का दमन होने पर भी हृदय का दमन नही है। यदि व्यक्ति उस पुस्तक या धर्म-गुरु मे विश्वास नही

करता तो इस आज्ञा को विना किसी सकोच के अस्वीकार कर सकता है। केवल हृदयगत विश्वास ही उसे यह आज्ञा मानने के लिए विवश करता है।

समाज के क्षेत्र मे यह नियन्त्रण कुछ आगे वढ जाता है। एक युवक ऐसी कन्या से विवाह करना चाहता है, जिसके लिए जातीय मर्यादा अनुमति नही देती। युवक की वुद्धि एव हृदय उस मर्यादा को अच्छा नही मानते। फिर भी उसमे इतना साहस नही है कि जातिवालो की उपेक्षा कर सके। यदि वह साहस वटोरकर अलग खडा हो जाय और सामाजिक बहिष्कार के कारण होनेवाले माधारण कष्टो की परवाह न करे, तो समाज उसे अपने निश्चय से नही रोक सकता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रतिभा तथा साहस-सम्पन्न युवक वहुत-से अन्य व्यक्तियो को अपने पक्ष मे कर लेता है और एक नये समाज की रचना कर डालता है, और पुराने प्रतिवधो को समाप्त कर देता है। वर्तमान नागरिक जीवन मे भिन्न-भिन्न जातियो के व्यक्ति प्रतिदिन आपस मे मिलते रहते है। पुराने जाति-वन्धुओ के साथ व्यवहार प्राय टूट जाता है। परिणामस्वरूप, सामाजिक वन्धन अपने-आप शिथिल हो रहे हैं।

राजनैतिक क्षेत्र मे नियन्त्रण का आधार शारीरिक या आर्थिक दण्ड होता है। साधारण व्यक्ति उसकी उपेक्षा नही कर सकता। वहुत-सी राज्य-प्रणालियो मे वौद्धिक तथा आर्थिक क्षेत्र पर भी कठोर नियन्त्रण है, जहा न विचार करने की स्वतन्त्रता है और न पुरुषार्थ की। वहा परतन्त्रता अपने उत्कट रूप पर पहुच जाती है।

स्वतन्त्रना की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। जिस क्षेत्र के सामने मानव का जो रूप है, वह स्वतन्त्रता की व्याख्या उसीको लक्ष्य मे रखकर करता है। उदाहरण के रूप मे, धर्म आत्मा को महत्त्व देता है। वह स्वतन्त्रता की व्याख्या भी आत्मा को लक्ष्य मे रखकर करता है। राजनीति शारीरिक हलचल को ध्यान मे रखकर इसकी व्याख्या करती है। समाजशास्त्र वर्ण-वैपम्य, लिंग-वैपम्य तथा रूढियो को लक्ष्य मे रखता है और अर्थशास्त्र उद्योग एव व्यवसाय को। फलस्वरूप, प्रत्येक क्षेत्र मे लोकतन्त्रीय व्यवस्था के भिन्न-भिन्न रूप हो जाते है। उनकी चर्चा

करने से पहले यह आवश्यक है कि हम स्वतन्त्रता की मर्यादा को समझ लें।

स्वतन्त्रता की मर्यादा

स्वतन्त्रता का शब्दार्थ है—इच्छानुसार काम करने की छूट। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट नही दी जा सकती। एक व्यक्ति जब दूसरे के अधिकार को छीनता है तो दूसरे मे उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है। परिणामस्वरूप, वह भी दूसरे का अधिकार छीनकर अपनी सम्पत्ति या बल की वृद्धि करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से आशकित रहने लगता है। सभी की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाती है। अतः दूसरे की स्वतन्त्रता को छीनने का अर्थ है अपनी स्वतन्त्रता को खतरे मे डालना। इसी लक्ष्य को सामने रखकर स्वतन्त्रता की मर्यादा की जाती है और वह वहीतक उचित समझी जाती है, जहा दूसरे के न्यायपूर्ण अधिकार मे बाधा नही डालती। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए दूसरे की स्वतन्त्रता का सम्मान करना आवश्यक है। उसीको समता तथा न्याय कहा जाता है। इनकी चर्चा आगे की जायगी।

स्वतन्त्रता के दो क्षेत्र है। पहला वह है, जहा एक व्यक्ति का स्वतन्त्र होकर विकास करना दूसरे के सुख या विकास मे बाधा नही डालता। उदाहरण के रूप में, यदि कोई विद्या या कला के क्षेत्र मे आगे बढना चाहता है तो कितना ही बढता चला जाय, दूसरे को हानि नहीं पहुचती। इस क्षेत्र मे लोकतन्त्र कोई प्रतिबन्ध नही लगाता, प्रत्युत प्रोत्साहन देता है। वहा समता की उपेक्षा करदी जाती है और स्वतन्त्रता मुख्य भावना बन जाती है।

दूसरा क्षेत्र वह है, जहा एक व्यक्ति का अमर्यादित विकास दूसरे के विकास मे बाधा डालने लगता है। यह क्षेत्र मुख्यतया अर्थ तथा राजनीति से सम्बन्ध रखता है। आर्थिक क्षेत्र के भी दो रूप है। पहले का सम्बन्ध उत्पादन से है और दूसरे का लाभ या वितरण से। यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा श्रम के द्वारा उत्पादन मे वृद्धि करता है और इस बात मे दूसरो से आगे बढ जाता है तो उसपर नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं है। उससे किसीको हानि नही पहुचती। किन्तु

जब वितरण मे विषमता आने लगती है, मुनाफे पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार हो जाता है और उससे दूसरो को जीवन-सामग्री प्राप्त करने मे कठिनाई होने लगती है, तो नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। वहा स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण लगाकर समानता पर बल दिया जाता है। इसी प्रकार जब कोई अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादन के साधनो पर एकाधिपत्य कर लेता है, जिससे उसकी सम्पत्ति उत्तरोत्तर बढती चली जाती है और दूसरे दरिद्र होने लगते है तो स्वतन्त्रता को दबाना आवश्यक हो जाता है। चोर, डाकू, दुराचारी आदि समाज-विरोधी तत्त्वो को दबाने के लिए भी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आवश्यक है। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण समाज मे जो विषमता आई और एक वर्ग दूसरे वर्ग के अत्याचारो से पीडित होने लगा, उसीकी प्रतिक्रिया के रूप मे साम्यवाद का जन्म हुआ, जहा उत्पादन के साधनो पर व्यक्ति का अधिकार समाप्त कर दिया गया। उसका मुख्य लक्ष्य अल्प-सख्यक सपन्न वर्ग पर भी नियत्रण नही है, किन्तु बहुसख्यक दरिद्रवर्ग को उसके अत्याचार एव बधनो से मुक्त करना है। वहा अल्पसख्यक वर्ग पर लगाये गए प्रतिबन्ध का उद्देश्य बहुसख्यक वर्ग की स्वतन्त्रता होता है।

दूसरा क्षेत्र राजनीति का है। जब एक व्यक्ति इतने अधिकार प्राप्त कर लेता है कि दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधा आने लगती है, तो उसके अधिकारो को घटाना आवश्यक हो जाता है। प्राचीन समय मे कानून बनाना, उनका पालन कराना तथा न्याय एक ही व्यक्ति के हाथ मे होते थे और वह मनमानी कर सकता था। कालान्तर मे उन्हे अलग-अलग कर दिया गया और विधान अर्थात कानून बनाने का कार्य विद्या-सम्पन्न त्यागियो को दिया गया। राजा के हाथ मे न्याय और दण्ड का कार्य रह गया। क्रमश न्याय को भी अलग कर दिया गया। लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे शासन की सर्वोच्च सत्ता भी जनता द्वारा चुने हुए प्रति-निधियो के हाथ मे सौप दी गई। अनेक स्थानो पर विधान का निर्माण, दण्ड-व्यवस्था तथा न्याय तीनो उसीके हाथ मे है, जिसे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy) कहा जाता है। जिन देशो मे

क्षेत्र की विशालता के कारण इस पद्धति को अव्यावहारिक समझा गया, वहा सर्वोच्च सत्ता प्रतिनिधि-मण्डल के हाथ मे रही और उसने अपनी सहायता के लिए पुलिस तथा न्यायविभाग का सगठन किया। इस प्रकार, राजकीय सत्ता उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होती गई।

इस प्रकार एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता उत्तरोत्तर घटती चली गई और एक दिन वह अन्य सबकी समानता पर आ गया। इस प्रकार स्वतन्त्रता के मर्यादित होने पर भी हम उसे अपहरण नही कह सकते, क्योकि यह मर्यादा स्वय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए की गई है। एक व्यक्ति के पास जितने अधिक अधिकार रहते है, उतना ही वह दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। इतना ही नही, उसे अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सदा जागरूक रहना पडता है। अधिकार एव सत्ता के विनाश का भय उसे अधिकाधिक क्रूर एव चिन्तित बनाता चला जाता है। इस प्रकार उसकी अपनी स्वतन्त्रता भी छिन जाती है। उसकी रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे व्यक्ति के लिए भय न रहे और दूसरा व्यक्ति उसके लिए भय न रहे।

अर्थ-व्यवस्था मे जबतक श्रमिक और पूजीपति का भेद बना हुआ है, तबतक दोनो एक-दूसरे से आशकित रहेगे। फलस्वरूप, दोनो की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। उसे प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक ही स्वामी बन जाय। वह स्वतन्त्र अवस्था मे किया गया श्रम कष्ट के स्थान पर आनन्ददायी बन जायगा। राज्य-व्यवस्था मे जबतक एक वर्ग अपने को शासक समझता है और दूसरा शासित, तबतक तनाव बने रहेगे। परस्पर सघर्ष, उपद्रव एव दमन भी होते रहेगे। किन्तु जब शासित स्वय शासक बन जायगा, तब कितना ही नियन्त्रण किया जाय, वह उसे हर्षपूर्वक स्वीकार करेगा। उस अवस्था में बन्धन भी सुखद हो जायगे।

समाज को सुव्यवस्थित और साथ ही प्रगतिशील बनाने के लिए स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अन्य अनेक तत्त्वों को ध्यान मे रखने की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता को सामाजिक एव राजकीय व्यवस्था का अतिक्रमण नही करना चाहिए। इसी प्रकार उसे न्याय तथा समता के

विरुद्ध भी नही जाना चाहिए। स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह समाज की गतिविधि एव तनावो का ध्यान रखे। समाज की मर्यादा, स्तर एव परम्परा के विरुद्ध न जाय। इसी प्रकार किसी राष्ट्र के आन्तरिक अन्तर्राष्ट्रीय, जातीय, धार्मिक एव प्रादेशिक स्वार्थों तथा आवश्यकताओ के विरुद्ध भी न चले।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भी एक मर्यादा है। किसी व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध नही जाना चाहिए, अर्थात ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए, जिसे अन्तरात्मा अन्याय या बुरा कहे, जिसे वह लोक-व्यवस्था, सामाजिक सम्वन्ध एव अपने उत्तरदायित्व के प्रतिकूल मानता हो। प्रत्येक व्यक्ति का मानस एक राज्य है और उसमे अधिकार और कर्तव्य, स्वतन्त्र इच्छा और सयम सभी का महत्त्व है। इन सबकी समुचित व्यवस्था होने पर उसे स्वर्ग बनाया जा सकता है। एक की स्वतन्त्रता के लिए दूसरो की उपेक्षा नही की जा सकती। ऐसा नही हो सकता कि हम अपने व्यक्तित्व मे से एक भाग निकाल दें और दूसरे भाग को स्वीकार किये रहे। स्वतन्त्रता और सयम व्यक्तित्व के आवश्यक अग है। एक नियम तोडने की ओर ले जाता है और दूसरा नियम पालन की ओर। दोनो मे द्वन्द्व चलता रहता है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए दोनो का समन्वय आवश्यक है।

स्वतन्त्रता और धर्म

धर्म पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह मनुष्य की स्वतन्त्रता मे वाधा डालता है। वह जीवन को इस प्रकार नियन्त्रित कर देता है कि स्वतन्त्र प्रवृत्ति के लिए अवकाश नही रहता। धर्मशास्त्र पद-पद पर रोक लगाता है।

किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह आक्षेप भ्रमपूर्ण है। धर्म का उच्चतम लक्ष्य स्वतन्त्रता है, उसीकी रक्षा एव प्राप्ति के लिए वह दैनदिन प्रवृत्तियो पर रोक लगाता है। ये प्रवृत्तिया ऐसी होती हैं जो तात्कालिक स्वतन्त्रता प्रतीत होने पर भी अत मे हमे वधन मे डाल देती है। उदाहरण के रूप मे, शरीर पर नियन्त्रण न रखनेवाला व्यक्ति

आलसी एव रोगी हो जाता है। पद-पद पर उसे दूसरे का सहारा लेना पडता है। मन को निरर्गल छूट देनेवाला विलासी एव बाह्य आकर्षण का दास हो जाता है। उनके न प्राप्त होने पर उसे अपना जीवन सूना दिखाई देता है। उन्हे प्राप्त करने के लिए वह सब तरह की गुलामी एवं पराधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है। धर्म उसे बचने के लिए चेतावनी देता है। प्रारम्भ मे रोक जान पडने पर भी उस चेतावनी का अतिम लक्ष्य स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार, जो व्यक्ति दूसरे को हानि पहुचाता है, वह अपनेको हानि पहुचाने का बीज बो देता है। धर्म का कथन है कि स्वय बीज बोकर उसके फल से बचने का प्रयत्न व्यर्थ है। इसके लिए यही उचित है कि बीज ही न बोया जाय।

आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा व्यक्तित्व तीन भागो मे विभक्त है—शरीर, मन और आत्मा। शरीर के पुन दो भेद है—स्थूल शरीर और प्राण। इसी प्रकार मन के भी भेद हैं—इच्छाए और बुद्धि। धर्म की दृष्टि मे स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्मा का बाह्य प्रभाव से मुक्त होना। वह आत्मा अर्थात आभ्यतर व्यक्तित्व की रक्षा के लिए मन एव बाह्य व्यक्तित्व पर नियन्त्रण रखने को कहता है। जहातक व्यक्ति और व्यक्ति के परस्पर सघर्ष का प्रश्न है, धर्म अपने अधिकार को छोडकर भी दूसरे के अधिकार की रक्षा करने पर बल देता है। राजनीति मे व्यक्ति अपने अधिकार और दूसरे के कर्तव्य पर ध्यान देता है। इसके विपरीत, धर्म अपने कर्तव्य और दूसरे के अधिकार पर। वह ऐसी जीवन-पद्धति प्रस्तुत करता है, जहा व्यक्ति उत्तरोत्तर स्वाधीन होता चला जाता है। साथ ही उसकी स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधा नही डालती। धर्म की दृष्टि मे पराधीनता दो प्रकार की है अन्य व्यक्ति की पराधीनता और आत्मा से भिन्न जड़ वस्तुओ की पराधीनता। धर्म का कथन है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अधीन तभी होता है जब वह जड वस्तुओ पर आश्रित रहने लगता है। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आत्मा को गुलाम नही बना सकता। आर्थिक, राजनैतिक या अन्य किसी प्रकार की शक्ति हो, शरीर या जड वस्तुओ पर ही आधिपत्य जमा सकती है। जो व्यक्ति अपनी इच्छाओ और आवश्यकताओ को

घटता जाता है, उसे जड वस्तुओ के वन्धन से छुटकारा मिलता जाता है। इस छुटकारे के साथ वह दूसरे व्यक्ति के लिए भी अजेय वनता चला जाता है। अन्त मे पूर्णतया स्वाधीन और स्वतन्त्र हो जाता है।

धर्म की दृष्टि मे विशाल भूखण्ड पर एकाधिपत्य रखनेवाला चक्रवर्ती सम्राट भी इच्छाओ का गुलाम है। उन्हीसे प्रेरित होकर युद्धो एव षडयन्त्रो मे लगा रहता है। उसे भय वना रहता है कि उपार्जित राज्य शत्रु के हाथ मे न चला जाय। इसके विपरीत, जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति ही नही, शरीर का भी मोह त्याग चुका है, उसे किसीका भय नही है। उसे सेना या अन्य किसी बाह्य शक्ति पर निर्भर रहने की आवश्यकता नही है। आत्मबल ही उसका सबसे वडा वल है, उसकी स्वतन्त्रता को कोई नही छीन सकता।

धार्मिक स्वतन्त्रता का दूसरा अर्थ है, अपने जीवन को ऐसा वना लेना, जिससे दूसरे को किसी प्रकार की हानि न पहुचे। यह तभी सम्भव है जव व्यक्ति वाह्य लक्ष्य को छोडकर अन्तर्मुखी हो जाय। दूसरे को हानि पहुचाने के लिए प्रेरित करनेवाले मुख्य दो तत्त्व है—राग और द्वेष। राग के अनेक प्रकार है सम्पत्ति के प्रति राग भूमि के प्रति राग, स्त्री के प्रति राग, कीर्ति के प्रति राग, पथ, सप्रदाय या मान्यता के प्रति राग, इत्यादि इनसे प्रेरित व्यक्ति अधिक सचय करना चाहता है। दूसरे के अधिकार को छीनना चाहता है, अथवा योही ईर्ष्या का विषय वन जाता है। इसी प्रकार द्वेष के भी अनेक भेद है। जिस व्यक्ति ने हमे किसी प्रकार की हानि पहुचाई है, हम उसे अपना शत्रु मानने लगते है। दूसरे के पास अधिक सम्पत्ति होने पर ईर्ष्या होने लगती है, जो द्वेष का ही रूपान्तर है। दूसरे की कीर्ति का सहन न होना भी द्वेष का कारण वन जाता है। राग और द्वेष के वशीभूत होकर मनुष्य दूसरे से सघर्ष करता है और अपनी स्वतन्त्रता को खो देता है।

इन पर विजय प्राप्त करने के लिए साधना के रूप मे धर्म ने दो व्रत वताये है। राग पर विजय प्राप्त करने के लिए अपरिग्रह व्रत है। इसका अर्थ है व्यक्ति वाह्य वस्तुओ के मोह को घटाता चला जाय।

यहातक कि शरीर का मोह भी छोड दे । दूसरा व्रत अहिंसा है । इस का अर्थ है, किसी के प्रति द्वेष बुद्धि न रखे । सबको अपना मित्र माने । समस्त धर्म प्रवर्त्तको ने इन दोनो बातो पर बल दिया है ।

धर्म की दृष्टि मे पूर्ण स्वतन्त्रता वहा प्राप्त होती है, जहा हमारा अस्तित्व किसी बाह्य तत्त्व पर आश्रित नही रहता । जहा शरीर और मन से भी सम्बन्ध टूट जाता है, वहा एक अस्तित्व दूसरे अस्तित्व पर आश्रित नही होता और न ही उसका बाधक बनता है । स्वतन्त्रता का यही उच्चतम आदर्श है ।

इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि धर्म पथ का रूप लेकर मानव-बुद्धि का आवरण बन गया । उसने स्वतन्त्रता के स्थान पर परतत्रता की वृद्धि की । स्वय सोचने के अधिकार को छीनकर उसे किसी पुस्तक या व्यक्ति के वचनो पर विश्वास करने के लिए कहा गया । अनेक अतीन्द्रिय तत्त्वो की कल्पना की गई और बुद्धिगम्य न होने पर भी उन पर विश्वास करने के लिए कहा गया । धर्म का यह रूप लोकतत्रीय भावना के विरुद्ध है । लोकतत्र का ज्यो-ज्यो विकास होगा, मानव इस रूप से मुक्ति प्राप्त करता जायगा । किसी भी बात को तबतक स्वीकार नही करेगा, जबतक वह उसकी बुद्धि मे न उतर जाय । किसी अनुष्ठान को तबतक नही अपनायगा जबतक वह उसकी समझ मे नही आता ।

स्वतन्त्रता और समाज

समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक अभ्युदय । मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत दूसरे के सहारे की आवश्यकता होती है । अकेला रहकर वह विकास नही कर सकता । इसी तथ्य को लक्ष्य मे रखकर समाज-सस्था अस्तित्व मे आई । उसके परिवार, जाति, मोहल्ला, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि अनेक रूप है । प्रत्येक क्षेत्र अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार वैयक्तिक विकास मे सहायक होता है और उसपर प्रतिबध भी लगाता है । इनका लक्ष्य हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण नही होता, किन्तु इस प्रकार की जीवन-पद्धति

प्रस्तुत करना होता है, जिससे सभी को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। समाज-व्यवस्था उन कर्मों से रोकती है, जिनके करने पर सभी की स्वतन्त्रता छिन जाने का भय है। उदाहरण के रूप मे, परिवार, मोहल्ला, नगर आदि का सगठन इसलिए किया जाता है कि सभी सदस्य एक-दूसरे के सहायक बनकर विकास कर सके। वर्ण-व्यवस्था का भी वास्तविक लक्ष्य यही रहा है। वहा एक वर्ग दूसरे वर्ग की आवश्यकताओ का पूरक है।

किन्तु समय बीतने पर समाज-सस्था भी स्वतन्त्रता का अपहरण करने लगी। उसने जो मर्यादाए स्थिर की थी, स्वार्थी मानव उनका उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ एवं अहकार की पूर्ति मे करने लगा। फलस्वरूप, वर्ण-व्यवस्था वर्ग-विद्वेष मे परिणत हो गई। उसका नाम लेकर स्वतन्त्र विकास को रोका गया और ऊच-नीच की भावना को उभारा गया। इसी प्रकार, अनेक रीति-रिवाजो ने रूढियो का रूप ले लिया। उपयोगिता समाप्त होनेपर भी वे अबतक चिपकी हुई है और हमारे विकास को रोक रही है। लोकतत्र मानव को उन सब अनुपयोगी तथा हानिकारक तत्त्वो से मुक्त करना चाहता है।

स्वतन्त्रता और राजनीति

राज्य-सस्था भी हमारी हलचल पर प्रतिवध लगाती है। यह प्रतिवध दो प्रकार का होता है। कुछ बातो को करने की मनाही की जाती है और कुछ का विधान किया जाता है। किन्तु उन सबका लक्ष्य स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। चोर, डाकू आदि समाज-विरोधी तत्त्व दूसरो की शाति एव स्वतन्त्र जीवन मे बाधा डालते रहते है। इतना ही नही, अपराधी होने के कारण वे स्वय भी छिपे-छिपे फिरते है और अपनी स्वतन्त्रता को समाप्त कर देते है। राज्य-सस्था कानून द्वारा ऐसे वर्ग पर प्रतिवध लगाती है, साथ ही अपराधो की रोकथाम के लिए पुलिस आदि का सगठन करती है।

प्रतिवध का दूसरा रूप सामाजिक उत्तरदायित्व है। सचालन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का पालन

करे। उदाहरण के रूप मे, संतान का पालन, रोगी की सेवा-सुश्रूषा, अर्थोपार्जन, परिवार का भरणपोषण आदि बाते प्रस्तुत की जा सकती है। यदि व्यक्ति अपने इस कर्तव्य को नही निभाता तो समाज विश्रृंखलित हो जायगा। अत, राज्य इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए भी प्रतिबध लगाता है।

साम्यवादी राष्ट्रो मे यह उत्तरदायित्व राज्य सस्था ने अपने ऊपर ले लिया है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि व्यक्ति इस भार से मुक्त हो गया। वहा भी प्रत्येक व्यक्ति को किसी कारखाने मे जाकर उत्पादक श्रम करना पडता है। लोकतत्रीय राष्ट्रो मे व्यक्ति इस श्रम को करते समय स्वतत्रता का अनुभव करता है। वह यह समझता है कि मैं अपनी सतान या परिवार के लिए परिश्रम कर रहा हू। वात्सल्य उसके परिश्रम को बोझ नही बनने देता। दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्रो मे यह श्रम राजकीय यत्र के पुर्जे के रूप मे विवश होकर करना पडता है, वहा उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है।

राजकीय कानून व्यक्ति पर प्रतिबध लगाता है। लोकतत्र का कथन है कि यदि व्यक्ति उस प्रतिबध को अनुचित मानता है, जिसे न वह इच्छापूर्वक स्वीकार करता है और न अपना उत्तरदायित्व मानता है। ऐसा कानून वास्तव मे परतत्रता है। किन्तु स्वेच्छा या उत्तरदायित्व के रूप मे स्वीकृत होने पर वह परतत्र नही रहता।

हीगल के मतानुसार कानून भी स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप है। व्यक्ति अपने जीवन का सचालन करने के लिए जिस क्षेत्र को चुनता है, वहा ऐसा कोई नियन्त्रण नही होना चाहिए, जो उसे अनावश्यक या कठोर प्रतीत हो। वह जिस व्यवहार या रहन-सहन को नापसन्द करता है, यदि कानून उसके लिए बाध्य करता है तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति स्वतन्त्र नही है।

हीगल की यह धारणा विचारणीय है। हमारे सामने यह प्रश्न है कि क्या प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता दी जा सकती है? एक बालक ऐसे कार्य करना चाहता है, जिनमे उसे हानि पहुचने की सभावना है। सारा समय खेल-कूद में बिताकर अपने जीवन को नष्ट करना चाहता है।

हानिकारक वस्तुए खाकर अपने स्वास्थ्य को समाप्त करना चाहता है, क्या उसे स्वतन्त्रता दी जायगी ? इस प्रकार का जीवन उसी की भावी स्वतन्त्रता को नष्ट कर डालता है। अत समझदार माता-पिता का कर्तव्य हो जाता है कि उस पर नियन्त्रण करें। स्वतन्त्रता का अपहरण वही है, जहा अपहरण करनेवाला अपने किसी वैयक्तिक स्वार्थ के लिए ऐसा करता है।

राजनीति की दृष्टि से भी स्वतन्त्रता के दो रूप है—(१) निषेधात्मक और (२) विध्यात्मक। प्राचीन समय मे निषेधात्मक स्वतन्त्रता की मुख्यता रही है। इसका अर्थ है जीवन की सुरक्षा। उस समय छोटे-छोटे राज्य होते थे और परस्पर आक्रमण होते रहते थे। चोर, डाकू, आदि का भय भी बना रहता था। राजा का मुख्य कर्तव्य था उनसे प्रजा की रक्षा करना। जहातक प्रजा के आन्तरिक विकास का प्रश्न है, राजा का उससे साक्षात सम्बन्ध नही था। राजा के चुनाव और शासन-व्यवस्था मे भी प्रजा का विशेष हाथ न था।

लोकतन्त्रीय पद्धति के साथ विध्यात्मक स्वतन्त्रता का विकास हुआ। इसका पहला रूप है शासन-व्यवस्था का सर्वसाधारण के हाथ मे आना। यहा प्रत्यक्ष या प्रतिनिधि के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का शासन मे अधिकार रहता है।

विध्यात्मक स्वतन्त्रता का दूसरा रूप है प्रत्येक व्यक्ति को विकास की अधिक-से-अधिक सुविधाए प्राप्त होना। यही स्वतन्त्रता का मुख्य लक्ष्य है। राज्य का कर्त्तव्य है कि धर्म, समाज, अर्थव्यवस्था, परिवार आदि किसी क्षेत्र मे ऐसी अडचनें न रहने दे, जो व्यक्ति के विकास मे बाधक हो। दूसरी ओर, प्रत्येक क्षेत्र मे उन सुविधाओ का सम्पादन करे, जो विकास मे सहायक है। इस दृष्टि से देखा जाय तो स्वतन्त्रता का अर्थ है जीवन। उसकी अनेक परिभाषाए है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अर्थ है आत्मविकास, धार्मिक दृष्टि से सदाचार, आर्थिक दृष्टि से धन-वैभव और राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली होना। कल्याणकारी राज्य इन सबका विकास अपना उत्तरदायित्व मानता है।

जहा राज्य-सस्था पर एक व्यक्ति या अल्पसस्यक वर्ग का अधिकार

है और वह मनमानी कर रहा है, वहा प्रजा को स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि अनियन्त्रित सत्ता शासक को उन्मत्त बना देती है और उसीके लिए विनाशकारी सिद्ध होती है। ऐसा शासक सदा अपने स्वार्थ को दूसरे पर लादना चाहता है और अन्त मे यह मानने लगता है कि उसकी सत्ता एव स्वार्थ-पूर्ति मे ही सबका हित है। प्रजाजनो की स्वतन्त्रता के लिए शासक के अधिकारो पर नियन्त्रण आवश्यक है और यह तभी सम्भव है, जब उस पर भी कोई उत्तरदायित्व हो; उसके लिए उससे पूछा जा सकता हो। इसका अर्थ है प्रजा मे यह साहस हो कि वह शासक को कर्तव्य-पालन के लिए विवश कर सके। यदि वह उपेक्षा करता है तो उसे पद-च्युत कर सके। जहा प्रजा मे यह साहस नही है और शासक को मनमानी करने की छूट है, वहा प्रजा को स्वतन्त्र नही कहा जा सकता।

यहा एक प्रश्न है। साधारण जनता अज्ञान के कारण अपने हित को नही समझती। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह अपने हित को नही चाहती। प्रत्येक बालक उन्नति करना चाहता है। अपने को शक्तिशाली तथा सम्पन्न बनाना चाहता है। दूसरी ओर अज्ञानवश परिश्रम नही करता। खान-पान तथा रहन-सहन मे सयम नही रखता। ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहता है जो उन्नति के प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति मे वास्तविक इच्छा किसे समझा जायगा और बालक की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ होगा ?

यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है। इसका एक ही उत्तर है कि बालक के मन मे यह भावना नही आनी चाहिए कि उसपर अनुचित शासन किया जा रहा है या अन्याय हो रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि नियन्त्रण की मात्रा कम-से-कम हो। बालक जब कोई ऐसा कार्य करे जो उसके हित के प्रतिकूल हो तो यथासम्भव समझाने का प्रयत्न किया जाय। दूसरी ओर, उसे स्वय निर्णय का अवसर अधिक-से-अधिक दिया जाय। देखा गया है, अत्यधिक नियन्त्रण होने पर व्यक्ति प्रतिक्रिया के रूप मे भी अनुचित कार्य करने लगता है। इसके विपरीत,

नियन्त्रण की मात्रा कम होने पर जब वह अपने उत्तरदायित्व को स्वय अनुभव करने लगता है तो अनुचित प्रवृत्ति अपने-आप रुक जाती है। इसी प्रकार शासन जितना कठोर होता है, प्रजा मे उसकी उतनी ही उग्र प्रतिक्रिया होती है। नियम तोडने की वृत्ति वढने लगती है। अपराधो की मात्रा अधिकाधिक होती जाती है। स्वतन्त्रता का जिस अनुपात मे अपहरण होता है, व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को भूलता चला जाता है। दूसरी ओर स्वतन्त्रता की वृद्धि के साथ उत्तरदायित्व की अनुभूति वढती चली जाती है। व्यक्ति अपने वास्तविक हित को समझने लगता है और वही उसकी इच्छा वन जाती है। किन्तु यह तव-तक सम्भव नही है, जवतक उसे राजकीय नियम के रूप मे ऊपर से लादा जायगा। विद्या तथा वुद्धि-सम्पन्न जिन व्यक्तियो के हाथ मे नेतृत्व है, उनका इतना ही कार्य है कि सर्वसाधारण का मार्ग-दर्शन करें। उचित एव अनुचित का विवेक उत्पन्न करें, किन्तु निर्णय करने के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड दे। इसके विपरीत यदि वे सत्तारूढ होकर सर्वसाधारण का सचालन दण्ड-शक्ति द्वारा करना चाहते हैं तो यह स्वतन्त्रता का अपहरण है, और अनुचित है। लक्ष्य कितना ही अच्छा क्यो न हो, अनुचित उपाय उसकी पूर्ति मे साधक होने के स्थान पर वाधक वन जाते हैं।

स्वतन्त्रता और अर्थ-व्यवस्था

स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति ऐसी विवशताओ से मुक्त रहे, जिनसे वाध्य होकर उसे दूसरे की गुलामी करनी पड़ती है। उनमे सवसे प्रवल आर्थिक विवशता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय या धन्धा चुनने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु यदि उसके पास निर्वाह या व्यवसाय प्रारम्भ करने के साधन नही हैं, तो विवश होकर दूसरे की गुलामी करनी पडती है और मालिक की इच्छानुसार काम करना पडता है। राजकीय नियन्त्रण न होने पर उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। वहुत-सी स्त्रियो को निर्वाह के लिए वेश्या-वृत्ति अपनानी पडती है। वालको को अध्ययन छोडकर कारखाने मे

मजदूरी करनी पडती है। ऐसी स्थिति मे राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि उन परिस्थितियों को दूर करे, जो विषमता उत्पन्न करती है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को छीन लेती है। इसका अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-निर्वाह की उचित व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व है। इसके बिना स्वतन्त्रता की रक्षा नही हो सकती। किन्तु राज्य के पास ऐसा कोष नही होता कि बेकार बैठे व्यक्तियो को खाने के लिए दे सके। यदि वह ऐसा करने लगता है तो बेकार व्यक्तियों की सख्या उत्तरोत्तर बढती जायगी और राज्य का सचित कोष समाप्त हो जायगा। करो द्वारा उस कोष को बनाये रखने का अर्थ है बेकार बैठे व्यक्तियों का बोझ काम करनेवाले व्यक्तियो पर डालना और यह एक प्रकार से उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण है। ऐसी स्थिति मे एक ही उपाय है कि प्रत्येक व्यक्ति को यदि वह शारीरिक दृष्टि से असमर्थ नही है, योग्यतानुसार काम दिया जाय। व्यवसाय के चुनाव मे स्वतन्त्रता होने पर भी काम न करने की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। साथ ही यह भी नही कहा जा सकता कि काम करने के लिए बाध्य करना स्वतन्त्रता का अपहरण है। काम किये बिना व्यक्ति अपने पैरो पर खडा नही हो सकता और उसे किसी दूसरे की गुलामी करनी पडेगी। अत, उसकी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि उससे काम लिया जाय। आर्थिक आत्म-निर्भरता अपने-आप मे स्वतन्त्रता नही है, किन्तु उसका अनिवार्य तत्त्व है।

आर्थिक स्वतन्त्रता का दूसरा अनिवार्य तत्त्व है व्यक्ति मे ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न करना, जिससे वह प्रगतिशील विश्व मे अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त कर सके। हमे अशिक्षित रहने की स्वतन्त्रता है, किन्तु ऐसा करने पर हम उन लाभो से वचित हो जाते है जो शिक्षित व्यक्तियो को प्राप्त है। हमे पद-पद पर शिक्षित व्यक्तियो के अधीन रहना पडेगा। इस प्रकार अशिक्षित रहने की स्वतन्त्रता जीवन की महत्त्वपूर्ण अन्य स्वतन्त्रताओ का अपहरण कर लेती है। अत, यह भी राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करे। अनिवार्य शिक्षा अपने-

आपमे स्वतन्त्रता नही है, प्रत्युत नियन्त्रण है। किन्तु यह अन्य अनेक प्रकार की महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्रताओ के लिए आवश्यक है।

साम्यवादियो की मान्यता है कि स्वतन्त्रता का एकमात्र लक्ष्य आर्थिक है। उनका कथन है कि आर्थिक दृष्टि से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अधीन नही होना चाहिए। यह मान्यता कुछ सीमा तक ठीक भी है। किन्तु मानव अर्थ तक ही सीमित नही है। स्वतन्त्रता के लिए अन्य तत्त्वो को भी दृष्टि मे रखना आवश्यक है। आर्थिक क्षेत्र मे भी मालिक और मजदूर का सम्बन्ध ही एकमात्र विषय नही है। इन दोनो के स्वार्थों के अतिरिक्त उपभोक्ताओ का स्वार्थ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मालिक, मजदूर तथा उपभोक्ता आदि सभीकी भिन्न रुचियो तथा उनके सास्कृतिक विकास का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

स्वतन्त्रता और समाजवाद

राष्ट्रीयता को आदर्श माननेवाले आधुनिक विचारको का कथन है कि स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक नियमो का पालन है। उनके मतानुसार हमारा व्यक्तित्व समाज की ही अभिव्यक्ति है। समाज अपनी प्रगति के लिए जिस आदर्श को सामने रखता है और नियम बनाता है, उनका मूर्त रूप व्यक्तियो मे मिलता है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का अर्थ है, समाज-यन्त्र मे पूर्णतया लीन हो जाना, जिसका व्यक्ति पुर्जा है। वह जिस सगठन का सदस्य है उससे पृथक उसका कोई अस्तित्व नही है। उसके उत्थान और पतन सगठन के उत्थान और पतन के साथ जुडे हुए है। सगठन का विकास ही उसका विकास है। सगठन जितना अधिक शक्तिशाली होगा व्यक्ति की शक्ति भी उसी अनुपात मे बढती जायगी। वह सगठन की जितनी अधिक सेवा करता है उतना ही आत्म-विकास करता है। अत स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव या न्यूनता नही है, किन्तु स्वेच्छापूर्वक सगठन की आज्ञाओ का पालन है। सगठन की गतिविधि के साथ अपनी गतिविधि को मिला देना ही सबसे बडी स्वतन्त्रता है।

यह ठीक है कि वैयक्तिक विकास के लिए समाज आवश्यक तत्त्व

है। हमें अपने रहन-सहन तथा प्रत्येक कार्य के लिए समाज की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु परस्पर सहयोगपूर्वक रहनेवाले व्यक्तियों का समूह ही समाज है। वह अपने-आपमें कोई इकाई नहीं है। व्यक्तियों के विकास का नाम ही सामाजिक विकास है। व्यक्तित्व को कुण्ठित करके समाज-संगठन को दृढ बनाने की कल्पना आदर्श नहीं कही जा सकती। स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेवाले मनुष्यों का संगठन भेड़ों के संगठन से प्रत्येक स्थिति में अच्छा है।

साधारणतया स्वतन्त्रता और अनुशासन में विरोध माना जाता है, किन्तु राज्य को आदर्श माननेवाले विचारक यह स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि स्वतन्त्रता का अर्थ है—इच्छानुसार प्रवृत्ति। इच्छा के दो भेद हैं—(१) व्यक्ति की इच्छा और (२) समाज या राज्य की इच्छा। व्यक्ति की इच्छा वास्तविक नहीं होती। उसमें हिताहित का विवेक नहीं रहता। वह क्षणिक आवेश को लिये रहती है। इसके विपरीत, असली इच्छा वह है, जिसमें व्यक्ति का वास्तविक हित छिपा हुआ है। यही इच्छा विवेक या विचार कही जाती है। इसका निर्णय सर्वसाधारण नहीं कर पाता। वह अदूरदर्शी होने के कारण सामूहिक स्वार्थ के स्थान पर वैयक्तिक स्वार्थ को अधिक महत्त्व देने लगता है। अन्त में दोनों को खो बैठता है।

इसकी पूर्ति राज्य या संगठन द्वारा होती है। अतः व्यक्ति राज्य की आज्ञापालन द्वारा अपनी ही इच्छा की पूर्ति करता है। राज्य जितना शक्तिशाली बनता है उतनी ही उसमें व्यक्तियों का हित करने की क्षमता बढ़ती है। यही स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ है बाह्य इच्छाओं का दमन करके अन्तरात्मा की आज्ञा का पालन करना, उसी प्रकार, समाजवादी शासन में स्वतन्त्रता का अर्थ है वैयक्तिक इच्छाओं का दमन करके सामूहिक इच्छा अर्थात् राजकीय आज्ञा का पालन। दोनों क्षेत्रों में संयम या नियन्त्रण आवश्यक माना गया है, और उसे स्वतन्त्रता में बाधक नहीं समझा गया। साम्यवादी शासन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उच्छृङ्खलता बताया जाता है और धार्मिक जगत में इन्द्रिय तृप्ति को बन्धन या

परतन्त्रता। रूसो ने इस सिद्धान्त को आदर्श राज्य के रूप मे उपस्थित किया और हीगल ने अपने तर्कों द्वारा उसका समर्थन किया।

आदर्श राज्य के उपरोक्त सिद्धान्त मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक कर्तव्य के परस्पर विरोध के समाधान का प्रयत्न मिलता है। यहा व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि समाज या राज्य को ही अपनी इच्छा माने और यह अनुभव करे कि राज्य का लक्ष्य मेरे लक्ष्य से भिन्न नही है। उसकी पूर्ति ही मेरे लक्ष्य की पूर्ति है। राजकीय आज्ञाओ का पालन मेरी अपनी ही आज्ञाओ का पालन है। क्योकि राजकीय आज्ञाओ का निर्माण उन विचारशील प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो द्वारा किया जाता है, जो सामाजिक उत्तरदायित्व को अच्छी तरह समझते है। उनका अनुभव मेरे तुच्छ अनुभव की तुलना मे बहुत अधिक है। उनका मत मेरे मत से अधिक मूल्यवान है। अत मेरे लिए वास्तविक स्वतन्त्रता का अर्थ है—राजकीय अनुशासन का पूर्णतया पालन, राजकीय लक्ष्य की पूर्ति के लिए वैयक्तिक लक्ष्य का परित्याग। मैं राजकीय अनुशासन का जितना स्वेच्छापूर्वक पालन करता हू, उतना ही अधिक स्वतन्त्र होता जाता हू। धार्मिक जगत मे इसका अर्थ है—परमात्मा की इच्छा मे अपनी इच्छा मिला देना। उसकी इच्छा को अपनी इच्छा समझना। साथ ही स्वीकार करना कि उसकी इच्छा को समझना मेरी पहुच के बाहर है। वह पुस्तक-विशेष मे लिखी हुई है या धर्म-गुरुओ को प्रातिभ-ज्ञान के रूप मे प्राप्त होती है, मेरी तुच्छ बुद्धि वहा नही पहुच सकती।

किन्तु अनुभव उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन नही करता। इसमे व्यक्ति की इच्छा को कुण्ठित कर दिया गया है। यह हमारे व्यक्तित्व पर भी कठोर प्रहार है। प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से भिन्न है, और स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। सबकी इच्छाओ और हितो को एक ही सूत्र मे बाधना व्यक्तित्त्व को समाप्त करना है। वास्तव मे देखा जाय तो राज्य क्या है? वह आज्ञाए निकालनेवाले सत्तारूढ थोडे-से व्यक्तियो के अतिरिक्त कुछ नही होता। बहुत-सी आज्ञाओ का पालन हम स्वेच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ करते है, कुछका उपेक्षा के साथ। कुछ ऐसी

भी आज्ञाए होती है, जिन्हे अन्तरात्मा स्वीकार नही करती। प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वतन्त्र निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है। यह कैसे कहा जा सकता है कि उस अधिकार को खो देने पर भी वह स्वतन्त्र है। बाह्य जगत के साथ प्रत्येक व्यक्ति का अपना सम्बन्ध होता है और उसी अनुभव के आधार पर वह अपने निर्णय बनाता है। इस अधिकार से वचित कर देने का अर्थ है उसके व्यक्तित्व तथा उसकी कर्तृत्व शक्ति को समाप्त कर देना। हमारे व्यक्तित्व मे दोनो बाते मिली हुई है। एक ओर सामाजिक तत्त्व है, जो सर्वसाधारण के साथ एकता स्थापित करते है। दूसरी ओर, वैयक्तिक शक्तिया और महत्त्वाकाक्षाए है, जो उसे आगे बढने के लिए प्रेरित करती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति मे बहुत-सी ऐसी इच्छाए होती है, जिनका हित की दृष्टि मे कोई मूल्य नही है। इतना ही नही, स्पष्टतया अहितकर समझते हुए भी वह बहुत-सी इच्छाओ को पूर्ण करना चाहता है। हित की दृष्टि से भी दो व्यक्तियो के स्वार्थों मे सघर्ष होता रहता है। उद्योगपति द्वारा धन का सचय राष्ट्रीय दृष्टि मे कुछ भी हो, वैयक्तिक दृष्टि से अहितकर नही कहा जा सकता। अत इच्छा और हित तथा वैयक्तिक हित और सार्वजनिक हित को एक मानना वास्तविक नही है।

साम्यवाद वैयक्तिक हित या इच्छा को कोई महत्त्व नही देना चाहता, किन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। वहा समाज की इच्छा के नाम से जिन नियमो को सर्वसाधारण पर लादा जाता है, वे केवल सत्तारूढ व्यक्तियो की इच्छा होते है। यह एकतन्त्र या सामन्तवाद का ही प्रच्छन्न रूप है। इतना ही अन्तर है कि सामन्तवाद मे राजकीय सत्ता जन्म या शक्ति के आधार पर प्राप्त होती है और यहा सगठन या नेतृत्व के आधार पर। नेता उचित अथवा अनुचित उपायो द्वारा जनता का समर्थन प्राप्त कर लेता है। किन्तु इतने मात्र से यह नही कहा जा सकता कि उसकी इच्छा ही जनता की इच्छा है। ऐसा भी देखा गया है कि नेता जिस दल से सम्बन्ध रखता है वह दूसरे दल को पनपने ही नही देता, और इसके लिए वैध तथा अवैध समस्त उपायो को काम मे लाता रहता है। ऐसी स्थिति मे दलीय सगठन सैनिक सगठन से कम

नही रहते । उनमे भी अप्रत्यक्ष रूप से समस्त हिंसक उपाय अपना लिये जाते हैं ।

: ४ :

समता

लोकतत्र की तीसरी मूलभावना समता है । पहले वताया गया है कि मानवता के विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, किन्तु मर्यादा न रहने पर एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता मे वाधा डालने लगती है, अर्थात स्वतन्त्रता अपने-आप परतन्त्रता का कारण वन जाती है । इस दुष्परिणाम से वचने के लिए स्वतन्त्रता पर समता की मर्यादा भी आवश्यक है ।

जड जगत मे समता का अर्थ है—आकार प्रकार, रूप, रग, वजन आदि मे समता । किन्तु मानवीय समता इससे भिन्न है । मानव जितना वाहर है, उतना ही, वल्कि उससे भी अधिक भीतर है । वह केवल शरीर नही है । इन्द्रिया मन, वुद्धि, आत्मा आदि सभी उसके घटक है । यदि हम जीवन का ध्येय सुख मानते है तो आन्तर-वृत्तियो पर भी ध्यान देना होगा । इसका अर्थ है उन तत्त्वो को ढूढना, जिनसे सवको एक-सा सुख मिलता है । उनमे प्रथम स्थान सरक्षण का है और दूसरा विकास का । प्रत्येक व्यक्ति को सर्वप्रथम चिन्ता अपने सरक्षण की होती है । वह मृत्यु और विनाश से डरता है । अस्तित्व की रक्षा के लिए पराधीनता भी स्वीकार कर लेता है । किन्तु अस्तित्व सुरक्षित प्रतीत होने पर विकास के लिए सघर्ष करने लगता है । उसमे वाधा डालनेवाले नियन्त्रणो एव वन्धनो को तोडने के लिए तैयार हो जाता है । इस दृष्टि से लोकतन्त्र का प्रथम कार्य है, सरक्षण की समता और दूसरा है, विकास के लिए अवसर की समता ।

समता की मर्यादा

जहां तक भौतिक जीवन का प्रश्न है, पूर्ण समता असम्भव कल्पना है। प्रतिभा, मनोबल, शारीरिक शक्ति आदि ऐसे तत्त्व है, जहा एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से स्वाभाविक भेद है, उसे कोई शासन-व्यवस्था या बाह्य शक्ति नही मिटा सकती। फिर भी, कुछ क्षेत्र ऐसे है जहा विषमता स्वभाविक नही, कृत्रिम है। उसे मनुष्य ने स्वय उत्पन्न किया है। इस विषमता को दूर करके समता की ओर बढना ही लोकतन्त्र की मूलभावना है।

उदाहरण के रूप मे, हम पाच व्यक्तियो को समान बनाना चाहते है और सबको एक-से कपडे, एक-सा भोजन तथा एक-सी मनोरजन सामग्री देने लगते है। यह व्यवस्था बाह्य दृष्टि से समान होने पर भी वास्तविक लक्ष्य को पूरा नही करती। एक व्यक्ति का मनोरजन सगीत द्वारा होता है, दूसरे का यात्रा द्वारा, एक मिठाई पसन्द करता है, दूसरा फल। ऐसी स्थिति मे दोनो को एक-सी सामग्री प्रस्तुत करने पर भी एक-सा सुख नही होगा। वास्तविक समता तभी होगी, जब उन्हे ऐसी सामग्री दी जाय जिससे दोनो को समान रूप से सुख हो। इसके लिए यही उचित है कि उन्हे वह सामर्थ्य प्रदान कर दी जाय जिससे अपनी इच्छानुसार सुख प्राप्त कर सकें। यह सामर्थ्य दो प्रकार से प्रदान की जा सकती है : (१) वितरण द्वारा और (२) योग्यता सम्पादन द्वारा। वितरण का अर्थ है प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति के रूप मे वह सामर्थ्य प्रदान करना, जिससे वह अपनी सुख-सुविधाए ख़रीद सके। योग्यता-सम्पादन का अर्थ है, उसमे ऐसे गुणो का विकास करना, जिससे वह अपने-आप सम्पत्ति उपार्जन करके उन सुख-सुविधाओ का स्वामी बन सके। योग्य पिता द्वितीय प्रकार को अधिक पसन्द करता है। इसी प्रकार, लोकतन्त्र समान वितरण के स्थान पर योग्यता-सम्पादन या व्यक्तित्व के निर्माण को अधिक महत्त्व देता है। इसके दो रूप है— (१) विकास मे बाधा डालनेवाले तत्त्वो को दूर करना और (२) उन साधनो को जुटाना, जो विकास मे सहायक है। उदाहरण के रूप मे, बालक का विकास करने के लिए एक ओर सामाजिक तथा आर्थिक

वाधाओ को दूर करने की आवश्यकता है, और दूसरी ओर उसकी शिक्षा के लिए उपयुक्त साधनो को जुटाने की ।

इस प्रकार, अवसर प्रदान करने पर भी हो सकता है कि एक वालक परिश्रमी तथा प्रतिभाशाली होने के कारण आगे वढ जाय और दूसरा पिछडा रहे । ऐसी स्थिति मे यह उचित न होगा कि समता लाने के लिए प्रतिभाशाली वालक की प्रगति को रोक दिया जाय । अत समता का यही अर्थ होगा कि दोनो को समान अवसर मिले । उसके पश्चात प्रगति करने के लिए दोनो स्वाधीन है । लोकतन्त्र की मर्यादा यहीतक है । पिता अपने पुत्रो के मनोरजन के लिए पाच-पाच रुपये देता है । पहला पुत्र पुस्तक खरीदता है, उसे पढकर अपने ज्ञान की वृद्धि करता है और जीवन के लिए ठोस लाभ प्राप्त करता है । दूसरा साथियो को लेकर चित्रपट देखने चला जाता है और तीसरा हानिकारक वस्तुए खाकर अपने स्वास्थ्य को विगाड लेता है । इस प्रकार, परिणाम मे भेद होने पर भी, यह नही कहा जा सकता कि पिता का व्यवहार विपमता-पूर्ण है । इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकार की समानता प्रदान करने पर भी लोकतन्त्र लाभ की समानता का दावा नही कर सकता ।

एक वात और है । सुविधाओ का सम्वन्ध केवल राजकीय या सामाजिक व्यवस्था से नही है । परिवार, आर्थिक स्तर तथा वैयक्तिक विशेषताओ का भी उसमे महत्त्वपूर्ण स्थान है । उदाहरण के रूप मे, एक वालक शिक्षित परिवार मे उत्पन्न होता है, दूसरा अशिक्षित परिवार मे । राज्य की ओर से शिक्षा की व्यवस्था है और दोनो को उससे लाभ उठाने का समान अधिकार है । फिर भी पारिवारिक वातावरण के रूप मे जो सुविधाए एक वालक को प्राप्त है, वे दूसरे को नही है । इसी प्रकार सम्पन्न परिवार मे उत्पन्न वालक को आर्थिक विकास के लिए जो सुविधाए प्राप्त हैं, वे श्रमिक के वालक को नही होती । दूसरी ओर, यदि राज्य इस विपमता को भी दूर करने का प्रयत्न करेगा तो वह वैयक्तिक जीवन मे अनुचित हस्तक्षेप होगा । इससे जीवन का रस सूख जायगा और मनुष्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी । मनुष्य राजकीय व्यवस्था के हाथ मे कठ-पुतली वन

जायगा। स्वस्थ लोकतंत्र में इस अति से बचने की आवश्यकता है। इसीलिए समानता के साथ स्वतन्त्रता को रखा गया है। ऐसी स्थिति मे राज्य का इतना ही कर्तव्य रह जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए समान रूप से सुविधाए प्रदान करे और जाति वर्ण, धर्म आदि के प्रतिबन्धो को हटा दे। उसके पश्चात विकास करना प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता पर निर्भर है। वहा समानता नही लाई जा सकती। मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विश्लेषण से पता चलता है कि प्रत्येक बालक मे अन्तरग शक्तिया होती है, जो विकास का अवसर न मिलने के कारण सोई रहती है। उनके जाग्रत हुए बिना मानव का विकास अधूरा रहता है। यदि लोकतन्त्र का लक्ष्य मानव का पूर्ण विकास है तो उन शक्तियो के जागरण का पर्याप्त अवसर मिलना चाहिए।

उपरोक्त चर्चा से समानता के नीचे लिखे अर्थ प्रकट होते हैं

(१) कानून की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति, वर्ग, जाति या धर्म मे भेद-भाव न होना।

(२) राज्य द्वारा प्राप्त होनेवाली सुविधाओ पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार।

(३) यह स्वीकार करना कि प्रत्येक व्यक्ति को सुखपूर्वक जीने का समान अधिकार है। किसी भी व्यक्ति या वर्ग के लिए दूसरे का यह अधिकार नही छीना जा सकता।

(४) यह स्वीकार करना कि प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा, भोजन, वस्त्र, निवास तथा जीवन की मौलिक सुविधाए प्राप्त करने का समान अधिकार है।

मनुष्यो मे परस्पर भेद के दो रूप है। पहला रूप स्वाभाविक भेद का है। एक मनुष्य शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होता है, दूसरा सबल, एक तीव्रबुद्धि, दूसरा मन्दबुद्धि, एक मिलनसार, दूसरा चिडचिडा, एक उदार, दूसरा कृपण। इन आधारो पर उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा मे भी भेद पड जाता है। एक का सर्वत्र सम्मान होता है और दूसरे का तिरस्कार। यह वैषम्य स्वाभाविक है। लोकतन्त्र के पास इसका इलाज नही है। वह इतना ही कर सकता है कि शारीरिक, बौद्धिक या

मानसिक दृष्टि से अविकसित व्यक्तियो के विकास की व्यवस्था करे और उनपर होनेवाले अत्याचार को रोक दे। किन्तु वह कानून के द्वारा सभीको एक स्तर पर नही ला सकता। विषमता का दूसरा रूप ऐसा है, जिसके लिए मनुष्य स्वय उतरदायी नही है। एक व्यक्ति को जन्म या धन-सम्पत्ति के आधार पर दूसरे से श्रेष्ठ मान लिया जाता है। इसका अर्थ है, मनुष्यत्व की अपेक्षा जन्म या धन-सम्पत्ति को अधिक महत्त्व देना। यहा धन-सम्पत्ति की तुलना मे मनुष्य गौण हो जाता है। लोकतन्त्र का तकाजा है कि मनुष्य और मनुष्य मे धन, सम्पत्ति, जन्म या इसी प्रकार के किसी अन्य तत्त्व के कारण भेद नही मानना चाहिए। एक व्यक्ति अपनी वीरता द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, दूसरा प्रतिभा और पुरुषार्थ द्वारा धनवान वनता है और तीसरा समाज-सेवा या साधना द्वारा उच्च स्थान प्राप्त करता है। उनकी प्रतिष्ठा स्वाभाविक है। किन्तु उनका वशज इन गुणो के विना ही उच्चता प्राप्त कर लेता है, जो उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप मे मिलती है, अधिकारी न होने पर भी वह उसे अपनी मानता है। इस प्रकार के उत्तराधिकारियो का एक वर्ग वन जाता है और वे उच्चता के वास्तविक कारण को भूलकर वर्ग-विशेप मे जन्म को ही प्रतिष्ठा का न्यायोचित अधिकार मानने लगते है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था मे यह दावा और भी सरल होगया है, क्योकि धन शक्ति का वहुत वडा कोप है और जव यह कोष पिता से पुत्र के पास पहुचता है तो वह योग्यता न होने पर भी शक्तिशाली वन जाता है। समाज मे उसकी प्रतिष्ठा भी वढ जाती है, उस प्रतिष्ठा का आधार उसके अपने गुण नही होते। इसका आधार वह सामाजिक व्यवस्था है, जहा स्वय अयोग्य होने पर भी योग्य पिता के पुत्र होने मात्र मे प्रतिष्ठा, शक्ति आदि गुण प्राप्त हो जाते है। ऐसे उदाहरणो मे मनुष्य की स्वाभाविक श्रेष्ठता लुप्त हो जाती है, और वे वाते महत्त्वपूर्ण वन जाती है, जिनका मनुष्यता के साथ कोई सम्वन्ध नही है। उदाहरण के रूप मे, सम्पत्ति का प्रदर्शन भडकीली वेशभूपा, गर्व से भरी वातचीत तथा व्यवहार, अपव्यय आदि वातो को महत्त्व दिया जाने लगता है। वे ही श्रेष्ठता का प्रतीक वन जाती है। राज-

नैतिक सत्ता तथा सैनिक उच्चता के लिए भी उन्ही बातो को महत्त्व दिया जाने लगता है । परिणामस्वरूप, परस्पर व्यवहार तथा सामाजिक स्तर—सभी जगह विषमता का समर्थन होने लगता है। एक वर्ग को विकास की सुविधाए तथा उन्नति के अवसर अनायास ही मिलने लगते है, और दूसरा उनसे सदा के लिए वञ्चित हो जाता है। इतना ही नही, इस विषमता के समर्थन मे तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि इस भेद-रेखा को समाप्त कर दिया गया तो समस्त मानवता एक स्तर पर आ जायगी । वह स्तर मध्यम लोगो का होगा । उच्चवर्ग समाप्त हो जायगा । उसके साथ सगीत, नृत्य, चित्रकला आदि विद्याए भी लुप्त हो जायगी, जिनको प्रश्रय एव प्रोत्साहन केवल उच्चवर्ग से प्राप्त होता है ।

क्रमश, यह विषमता सामाजिक रूप ले लेती है। एक वर्ग ऐसा बन जाता है, जो सदा ऊचा है, प्रतिष्ठित है और पूज्य है। दूसरा वर्ग घृणा एव उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगता है। उसका कर्तव्य हो जाता है—प्रथम वर्ग की सेवा करना और उसकी कृपा पर निर्भर रहना। इस प्रकार की अहकार-भावना तिरस्कृत वर्ग को आगे नही आने देती। दूसरी ओर, तथाकथित उच्चवर्ग वास्तविक गुणो के स्थान पर रूढियो को महत्त्व देने लगता है। परिणामस्वरूप दोनो का विकास रुक जाता है। समाज मे प्रेम एव सहयोग के स्थान पर घृणा एव विद्वेष बढने लगता है। सामन्तवाद का विश्वव्यापी इतिहास इस तथ्य को प्रकट करता है। वहा एक वर्ग दूसरे वर्ग के जीने के अधिकार को स्वीकार नही करता। लोकतन्त्र मानव के इस तिरस्कार को नहीं सह सकता। वह उन सब रूढियो, परम्पराओ, मर्यादाओ, अन्धविश्वासो एव पूर्व-ग्रहो को समाप्त कर देना चाहता है, जो अन्य किसी तत्त्व की तुलना मे मानव को नीचा समझते है।

समता के दो रूप है· आभ्यन्तर समता और बाह्य समता। आभ्यन्तर समता का अर्थ है, आत्मा की समता। मनुष्य ही नही, समस्त प्राणियो की आत्मा एक-सी है और बाह्य प्रभाव समाप्त हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति उस स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। वहा व्यक्तियो में

परस्पर कोई भेद नही रहेगा। भारत प्राचीन काल से इस आध्यात्मिक समता को अपना आदर्श मानता आ रहा है। बाह्य समता का अर्थ है, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सुविधाओ मे समानता। इस समता की ओर प्राचीन भारत का विशेष लक्ष्य नही रहा। समय-समय पर आन्दोलन होने पर भी वह जीवन मे नही उतरी। इसके मुख्य दो कारण थे (१) स्वाभाविक विषमता और (२) कर्मवाद मे अन्धविश्वास।

स्वाभाविक विषमता का अर्थ है, एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य से सहज भिन्नता। कितना ही प्रयत्न किया जाय, सभी मनुष्यो को एक-सा नही बनाया जा सकता। एक पहलवान है, दूसरा दुर्बल, एक बुद्धिमान है, दूसरा मूर्ख, एक परिश्रमी है, दूसरा आलसी। इस विषमता को दूर करना समाज या शासन-व्यवस्था की शक्ति के बाहर है। हम यही कर सकते है कि सबको एक-सी सुविधाए दी जाय। किन्तु उन सुविधाओ से लाभ उठाना या न उठाना व्यक्ति की अपनी इच्छा और योग्यता पर निर्भर है।

अधिकार मे समता होने पर भी फल अर्थात अधिकार से प्राप्त होनेवाले सुख मे समानता नही लाई जा सकती। सामाजिक विषमता को दूर करने का इतना ही अर्थ है कि जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति किसी अधिकार से वञ्चित न रहे। सभी को समान रूप मे समस्त सुविधाए प्राप्त हो। फिर भी, यदि कोई व्यक्ति विकास नही कर पाता तो समाज या राज्य-व्यवस्था उत्तरदायी नही है। उदाहरण के रूप मे, शूद्र या पिछडी जाति के प्रत्येक बालक को अध्ययन की सभी सुविधाए प्राप्त है। फिर भी आलस्य या बौद्धिक दुर्बलता के कारण वह उच्च अध्ययन नही कर पाता। परिणामस्वरूप, योग्यता के आधार पर प्राप्त होनेवाले उच्चपदो से वचित रह जाता है। इसे अधिकारो की विषमता नही कहा जा सकता।

इसी प्रकार स्त्री और पुरुष मे भी स्वाभाविक भेद है। शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरुष की अपेक्षा दुर्बल होती है। पुरुष मे बुद्धि की प्रधानता होती है और स्त्री मे हृदय की। सन्तान का उत्पादन तथा पालन की दृष्टि मे भी स्त्री पर बहुत-से ऐसे उत्तरदायित्व है,

जो पुरुष पर नही होते, और जिनके लिए स्त्री को दूसरे का सहारा अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है। इन परिस्थितियो को सामने रखने पर हम इसी निर्णय पर पहुचते है कि बाह्य विषमता को नही मिटाया जा सकता।

बाह्य विषमता को स्वीकार करने का दूसरा आधार कर्म-सिद्धान्त है। इसका जन्म आध्यात्मिक न्याय की दृष्टि को लेकर हुआ। जहा यह बताया गया है कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा तदनुसार उसे फल अवश्य प्राप्त होगा। वास्तव मे देखा जाय तो यह सिद्धान्त समता पर ही आधारित है, जिसका अर्थ है छोटा हो या बड़ा प्रत्येक को अपने कर्म के अनुसार फल मिलेगा। यह बात नही कि एक ही कर्म करने पर ब्राह्मण को दूसरा फल मिले और शूद्र को दूसरा। किन्तु यह सिद्धान्त इसी जन्म के कर्मो पर आधारित नही है। उसमे यह माना गया है कि पूर्व जन्म मे किये हुए कर्म भी इस जन्म मे फल देते है, अर्थात यदि कोई इस जन्म मे कष्ट भोग रहा है तो इसका कारण इसी जन्म का कर्म नही है, पूर्व-जन्म का कर्म भी उसका कारण हो सकता है।

चतुर मानव ने स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित होकर इस सिद्धान्त को अपना शस्त्र बना लिया, और इसका सहारा लेकर अन्याय के विरुद्ध उत्पन्न होनेवाले असन्तोष को दबाने का प्रयत्न किया। सामाजिक अत्याचार से पीडित मानव को उसने यह कहना प्रारम्भ किया कि यह पूर्व-जन्म मे किये हुए पाप का फल है। और इसे शान्ति-पूर्वक सहन करने मे ही कल्याण है। सिंहासन पर बैठे हुए स्वेच्छाचारी शासक ने कहा, "मैने पूर्व-जन्म मे तपस्या की थी। यह राज्य उसीका फल है। दूसरो को मेरे सुख से ईर्ष्या नही करनी चाहिए, क्योकि ईर्ष्या करना पाप है।" इस प्रकार, कर्म-सिद्धान्त का नाम लेकर व्यक्ति की अन्तरात्मा को दबाया गया और उससे जो मनोवृत्ति बनी, उसने राष्ट्रीय मानस का रूप धारण कर लिया। अब भी प्रत्येक भारतीय वैषम्य, अन्याय, उत्पीडन तथा अत्याचार को अपने पूर्व-जन्म मे किये हुए कर्म का फल मानता है। इससे उसकी उत्साह-शक्ति कुण्ठित हो गई है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या पूर्व-जन्म पर आधारित कर्म-

सिद्धान्त मिथ्या है ? यदि वह मिथ्या नही है तो यह मानना होगा कि विषमता स्वाभाविक है। इसका अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्म के अनुसार सुखी या दुखी, धनवान या दरिद्र बनता है । कोई बाह्य व्यवस्था इस भेद को नही मिटा सकती। इसके उत्तर मे हमे कर्म-सिद्धान्त का विश्लेषण करना होगा और यह जानना होगा कि उसकी मर्यादा कहातक है ?

हमारे भविष्य के विषय मे तीन दृष्टिया मिलती है—(१) ईश्वर-वाद, (२) नियतिवाद, (३) कर्मवाद।

ईश्वरवाद की यह मान्यता है कि हमारे सुख-दुख आदि पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियत्रण है। उसकी इच्छा के विना पत्ता भी नही हिल सकता। समस्त प्राणी उसके हाथ के खिलौने है। वह जिन्हे चाहती है, बनाती है और जिन्हे चाहती है, बिगाड डालती है। मानव यदि सुख चाहता है तो उसका एकमात्र कर्तव्य है उस शक्ति से याचना करता रहे। बताने की आवश्यकता नही है कि इस प्रकार का विश्वास लोक-तन्त्रीय जीवन-पद्धति के लिए सहायक नही हो सकता। यह तो एक प्रकार का अधिनायकवाद है, जहा समस्त प्रजाजनो से काम लेना और जीवन-सामग्री का वितरण किसी एक ही सर्वाधिकार सपन्न व्यक्ति के हाथ मे है, वह जिसे चाहे फासी पर लटका दे और जिसे चाहे उच्च आसन पर बिठादे।

भारत मे इस प्रकार की मान्यता प्राचीनकाल से रही है, किन्तु धीरे-धीरे उसमे सशोधन कर लिया गया, और यह माना गया कि व्यक्ति कर्म करने मे स्वतन्त्र है और फल भोगने मे परतन्त्र, साथ ही यह भी बताया गया कि फल कर्मो के अनुरूप ही मिलता है। इस प्रकार सशोधन होने पर कर्म ही सर्वोपरि बन जाता है, और उस नियामक शक्ति का विशेष महत्त्व नही रहता। किन्तु यदि हमारा भविष्य उस शक्ति की स्वतन्त्र इच्छा पर अवलम्बित है, जबतक यह माना जाता है, कि बुरा काम करने पर भी प्रार्थना या अन्य उपायो द्वारा उस शक्ति को प्रसन्न करके छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है, जबतक उसकी कृपा और कोप ही हमारे सुख-दुख के नियामक है, तबतक लोतन्त्रीय भावना

नही पनप सकती ।

भविष्य के विषय मे दूसरी मान्यता नियतिवाद की है। उसका कथन है कि हमारा भविष्य निश्चित है। जो कुछ होना है, होकर रहेगा। हम उसमे परिवर्तन नही ला सकते। यह विचारधारा भी भारत का अभिशाप बनी हुई है। इसने आलस्य और अकर्मण्यता को प्रोत्साहन दिया है, और पुरुषार्थ को कुण्ठित किया है। लोकतन्त्र उस विचारधारा का भी समर्थन नही करता। वह व्यक्ति को स्वय अपने सुख-दुख का निर्माता मानता है और अपने पैरो पर खडा होने के लिए कहता है।

तीसरी परम्परा कर्मवाद की है। इसका कथन है कि व्यक्ति अपने भविष्य का स्वय निर्माता है। उसका बनाना तथा बिगाडना स्वय उसके हाथ मे है। उसपर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण नही है। लोकतन्त्र इसी विचारधारा का समर्थक है।

भारत की समस्त धार्मिक परम्पराए पूर्व-जन्म को स्वीकार करती है और यह भी मानती है कि पूर्व-जन्म मे किये हुए कर्म का इस जन्म पर प्रभाव पडता है। भारतीय सस्कृति मे शरीर बदलने पर भी व्यक्तित्व नही बदलता। शरीर की उपमा कपडो से दी जाती है। कपडे हमारे बाह्य व्यक्तित्व को प्रकट करते है। जब वे पुराने हो जाते है तो हम उन्हे छोड देते है और नये पहन लेते है। फिर भी मौलिक व्यक्तित्व नही बदलता। वह दोनो अवस्थाओ मे अनुस्यूत है। इसी प्रकार शरीर बदलने पर भी व्यक्तित्व नही बदलता, अर्थात पिछले शरीर मे किये गए कार्यों का प्रभाव वर्तमान अवस्था पर बना रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उस प्रभाव को न्यूनाधिक नही किया जा सकता। मनुष्य उसे नये पुरुपार्थ द्वारा बदल सकता है, मिटा सकता है। योग-वासिष्ठ[1] मे आया है कि पुरातन और नूतन पुरुषार्थ मेढो की तरह आपस मे टकराते रहते है, जिसमे अधिक शक्ति होती है वह जीत जाता है। वर्तमान जीवन मे भी पूर्व अवस्था का प्रभाव उत्तर अवस्था पर

---

१. द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
प्राक्तनोऽद्यतनश्चैव जयत्यधिक वीर्यवान्॥

पडता है। किन्तु ऐसे व्यक्तियो की कमी नही है, जो उत्तर अवस्था के श्रम द्वारा पूर्व अवस्था की कमी को पूरा कर लेते है। इतना ही नही, नई प्रेरणा और नया उत्साह प्राप्त करके वहुत आगे वढ जाते है। दूसरी ओर, अनेक व्यक्ति ऐसे भी है जो पूर्व अवस्था की सचित सम्पत्ति पर सन्तुष्ट होकर बैठे रहते है और उत्तरोत्तर गिरते चले जाते है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही कर्म के अनुसार फल मिलता है। इसके तीन अर्थ है। पहला यह कि प्रत्येक व्यक्ति मे एक-सा मौलिक सामर्थ्य है, अर्थात सभीकी आत्मा मे एक-सी शक्ति है। उस शक्ति मे न्यूनाधिकता बाह्य कारणो से होती है, जिसके लिए व्यक्ति स्वय उत्तर-दायी है। दूसरा अर्थ है, अधिकार की समता, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थ करने और अपना भविष्य वनाने या विगाडने का पूरा अधिकार है। तीसरा अर्थ है फल की समता, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को कर्म के अनुसार समान फल प्राप्त होता है। उसमे किसी प्रकार का भेद नही होगा। इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक-सी सुविधाए मिलेगी, क्योकि इसका अर्थ होगा पुरुपार्थ की अवहेलना। प्रत्येक व्यक्ति पुरुपार्थ करने मे स्वतन्त्र है, और अपने ही पुरुषार्थ द्वारा वह भविष्य का निर्माण करता है, अर्थात पुरुपार्थ द्वारा फल का उपार्जन करता है। ऐसी स्थिति मे सवके लिए एक-सा फल निश्चित नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे इस समानता का अर्थ होगा, अधिक पुरुपार्थ करनेवाले के प्रति अन्याय। एक व्यक्ति तीन घण्टे परिश्रम करता है और दूसरा छह घण्टे। स्वाभाविक रूप मे छह घण्टे परिश्रम करनेवाले को अधिक लाभ प्राप्त होता है। यदि उसे उतना ही लाभ प्राप्त हो, जितना तीन घण्टे परिश्रम करनेवाले को होता है तो यह अन्याय होगा। पुरुपार्थ की स्वतन्त्रता और न्याय की समता के आवश्यक तत्त्व है। इनके विना वह चेतन के स्थान पर जड समता वन जाती है।

यह वताया जा चुका है कि हमने कल जो पुरुपार्थ किया, वही आज भाग्य वन जाता है। साथ ही यह भी वताया जा चुका है कि भाग्य का जीवन पर प्रभाव होने पर भी स्वतन्त्र पुरुपार्थ के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। उससे हमारा जीवन कुण्ठित नही होता। पुराने सस्कार और नई क्रिया-

शक्ति के सतुलन का नाम ही स्वस्थ जीवन है।

इस प्रकार, कर्मवाद एक ओर मौलिक समता का प्रतिपादन करता है और दूसरी ओर बाह्य विषमता को भी स्वीकार करता है, जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता और न्याय का अवश्यभावी परिणाम है। साथ ही, यह भी मानना पडता है कि ईश्वर या कर्मवाद का आश्रय लेकर एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकारो को कुचलने की चेष्टा की। किन्तु यह उस सिद्धान्त का दुरुपयोग था। इसके विरुद्ध जन-साधारण मे क्रान्तिया हुई और मानव धर्म-सस्था को भी अत्याचारी साम्राज्यवाद का सहायक मानने लगा।

समता के विविध रूप

कर्म-व्यवस्था कर्म और फल की समता पर बल देती है। उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने कर्म का समान फल मिलता है। उसमे किसी प्रकार का भेद नही होता। दूसरे शब्दो मे इसे पुरुषार्थ और फल की समता भी कहा जा सकता है। कर्म-व्यवस्था धर्म-सस्था की देन है। उसकी यह भी मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा अपने-आप मे समान है। निजी गुणो को अभिव्यक्त करके वही परमात्मा बन जाता है। इस प्रकार की शक्ति होने पर भी वह अपने ही विकारो एव दुर्बलताओ के कारण पिछडा हुआ है। उन्हीके कारण एक व्यक्ति सुखी तथा विकसित है, दूसरा दुखी तथा अविकसित। आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है, उस भूमिका पर पहुचना जहा सभी समान है। उसीको आभ्यन्तर समता कहा जाता है। धर्म सस्था अधिकार के स्थान पर कर्तव्य को महत्त्व देती है। वहा बाह्य सघर्ष की आवश्यकता नही होती। इसके विपरीत, राज्य-सस्था अधिकारो को महत्त्व देती है, वहा समता का प्रश्न भी अधिकारो को लेकर उठाया जाता है।

अधिकार का अर्थ है वे सुविधाए, जिनके विना व्यक्ति विकास नही कर सकता। उसके गुण दबे रहते है और वह मनुष्य से गिरकर पशु की भूमिका पर पहुच जाता है। जहा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अधिकार जमाये हुए है, वहा दोनो का विकास रुक जाता है। जिस

व्यक्ति के अधिकार छिन जाते हैं, उसे विकास का कोई अवसर नही मिलता। दूसरी ओर, छीननेवाला सदा सशक रहता है और उत्तरोत्तर क्रूर होता चला जाता है। वहा व्यक्तियो का सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नही होता।

लोकतन्त्र किसी ऐसे अधिकार को स्वीकार नही करता, जो व्यक्ति या वर्ग विशेष-तक सीमित हो, जो अधिकार एक व्यक्ति को प्राप्त है, योग्य होने पर दूसरा भी उसे प्राप्त कर सकता है। इस योग्यता का मापदण्ड कुल, जाति या धर्म आदि नही है। इसका एकमात्र आधार वैयक्तिक गुण है। साथ ही जो अधिकार दूसरे के मौलिक अधिकारो पर आघात करता है, उसे प्राप्त करने का किसी को अधिकार नही है। इसका नाम अधिकार की समता है। सामाजिक या राजनैतिक किसी व्यवस्था का लोकतन्त्रीय होना इसी बात पर निर्भर करता है कि वहा अधिकारो की समता कहातक है।

सक्षेप मे अधिकार के नीचे लिखे आवश्यक तत्त्व हैं

१ अधिकार का प्रश्न सामाजिक जीवन को लक्ष्य मे रखकर खडा होता है। अकेले व्यक्ति के लिए अधिकार का प्रश्न नही होता। जब दो व्यक्ति परस्पर मिलकर कार्य करते है, तभी यह प्रश्न उठता है कि किसका कितना अधिकार है। एकतन्त्रीय व्यवस्था मे शासक और शासित का अधिकार एक-सा नही होता। इसी प्रकार सामाजिक अधिकारो मे भी विषमता रहती है। लोकतन्त्र उन सब विषमताओ को दूर कर देना चाहता है, जिनके कारण व्यक्ति स्वय उत्तरदायी नही है। किन्तु अशिक्षित, निर्बुद्धि या दुर्बल होने के कारण यदि वह किसी अधिकार को नही प्राप्त कर सकता तो लोकतन्त्र उत्तरदायी नही है। वह इतना ही कर सकता है कि प्रबल द्वारा दुर्बल के अधिकारो का अपहरण न होने दे।

२ प्रत्येक अधिकार कर्तव्य या उत्तरदायित्व को लिये हुए है। एक का अधिकार दूसरे का उत्तरदायित्व है। वास्तव मे देखा जाय तो यह दोनो एक ही तथ्य के दो पहलू है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नही रह सकता। उत्तरदायित्व के बिना अधिकार नही टिक सकता। इसी प्रकार अधिकार के बिना उत्तरदायित्व नही निभ सकता।

३. अधिकार का अर्थ आधिपत्य नही है। हम दूसरे के अधिकार छीन कर उनपर आधिपत्य जमा लेते है, जो विषमता के बिना नही होता। किन्तु अधिकार समता के आधार पर प्राप्त होता है, अर्थात हम जो अधिकार दूसरे को देने के लिए तैयार नही है उन्हे स्वयं प्राप्त करने का अधिकार भी हमे नही है।

४. अधिकारो का सम्बन्ध सार्वजनिक हित से है। समाज व्यक्ति को जो अधिकार देता है, उनका लक्ष्य सार्वजनिक हित होता है।

५ राज्य अधिकारो का निर्माण नही करता। वह केवल उन अधिकारो की रक्षा करता है, जो समाज द्वारा व्यक्ति को दिये जाते है। राज्य उनके अपहरण तथा दुरुपयोग को रोकता है।

६ अधिकार बदलते रहते है। उनका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति का सरक्षण एव विकास है। ज्यो-ज्यो व्यक्ति की भावनाए और परिस्थितिया बदलती है, उनमे भी परिवर्तन होता रहता है।

अधिकार दो प्रकार के होते है—(१) नैतिक अधिकार और (२) राजकीय अधिकार। नैतिक का अर्थ है वे अधिकार, जिन्हे मनुष्य धार्मिक या सामाजिक आचार-संहिता के आधार पर प्राप्त करता है। इनका मुख्य आधार कर्तव्य है। उदाहरण के रूप मे, जो मनुष्य परिश्रम नही करता, उसे धन-सम्पत्ति से प्राप्त होनेवाली सुख-सुविधाओ का अधिकार नही मिलता। जो शिक्षा या अन्य योग्यता नही प्राप्त करता, उसे उच्च पद प्राप्त करने का अधिकार नही है। इसी प्रकार, जो व्यक्ति सामाजिक सदाचार का पालन नही करता, उसे सामाजिक सुविधाए प्राप्त करने का अधिकार नही होता। राजकीय अधिकारो का अर्थ है वे सुविधाए, जो प्रत्येक मनुष्य को शासन द्वारा प्रदान की जाती है।

राजनैतिक समानता का अर्थ है कि उन सब विशेषाधिकारो को समाप्त कर दिया जाय जो जन्म, सम्पत्ति, जाति, धर्म, वर्ण आदि के आधार पर खडे किये गए है। समस्त प्रतिबन्ध हटा दिये जाय, जिससे इन आधारो पर किसी व्यक्ति को राजनैतिक या सामाजिक अधिकारो से वञ्चित न होना पडे। प्रत्येक व्यक्ति मे यह अनुभूति हो कि राष्ट्र

का नागरिक होने के नाते जो अधिकार दूसरे को प्राप्त है वे मुझे भी प्राप्त है। प्रतिनिधियो का चुनाव करने मे मेरे मत का भी उतना ही मूल्य और महत्त्व है, जितना अन्य किसी के मत का। मै भी अपनी योग्यता के अनुसार उच्चतम राजकीय तथा अन्य पद पर पहुच सकता हू। इस विषय मे प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ है व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाना। इससे व्यक्ति हतोत्साह हो जाता है। विवशता मे रहनेवाले व्यक्ति की महत्वाकाक्षाए समाप्त हो जाती है। वह जिन परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ है, उन्हे स्वाभाविक तथा अनिवार्य मानने लगता है और उनसे ऊपर उठने की हिम्मत छोड देता है। उसकी कर्तृत्व-शक्ति कुण्ठित हो जाती है और गुलामी स्वभाव बन जाती है।

कर्तव्य की समता

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अधिकार कहा से आते है? उन्हे कौन प्रदान करता है? एकतन्त्रीय व्यवस्थाओ मे अधिकार का केन्द्र कोई अतीन्द्रिय शक्ति या सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति रहा है और सर्व-साधारण अधिकार-प्राप्ति के लिए उसके सामने हाथ जोडकर गिड-गिडाता रहा है। अनेक स्थानो पर सर्व-साधारण ने सगठित होकर इसके विरुद्ध सघर्ष किया, जिन्हे हम राज्य-क्रान्तिया कहते है। लोक-तन्त्रीय व्यवस्था मे सत्ता या अधिकार किसी व्यक्ति के पास पुञ्जीभूत नही होता। वहा सब मिलकर जितना परिश्रम करते है, उतना ही शक्ति का सचय होता है और सभी उससे लाभ उठाते है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था मे परिश्रम मजदूर करता है और फल मालिक को मिलता है। मजदूर यदि अपनी वेतन-वृद्धि या अन्य किसी अधिकार को प्राप्त करना चाहता है, तो उसका परिश्रम के साथ साक्षात सम्बन्ध नही होता। इसके लिए मालिक को मनाना होता है। यह मनाना अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनो उपायो द्वारा हो सकता है। किन्तु लोकतन्त्रीय अर्थ-व्यवस्था मे यदि मजदूर अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है, तो अधिक श्रम करना आवश्यक है। इसका अर्थ है, इस व्यवस्था मे अधिकार की प्राप्ति कर्तव्य के द्वारा ही होती है। दूसरी बात यह है कि

यहा अधिकार देनेवाला और प्राप्त करनेवाला भिन्न-भिन्न नही है। दोनो एक ही हैं। मजदूर ही अपने परिश्रम द्वारा अधिक अधिकार या सुविधाए प्राप्त करता है। अत लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे एक ओर अधिकार की समानता है तो दूसरी ओर उत्तरदायित्व या कर्तव्य की समानता है।

विचारो की समता

विचारो की समता का अर्थ है, किसी निर्णय को स्वीकार करते समय 'स्व' 'पर' का भेद न करना। यदि वह सत्य है तो पराया होने पर भी मान लेना और यदि वह मिथ्या है तो अपना होने पर भी छोड देना। इसी प्रकार इस बात पर भी ध्यान न देना चाहिए कि वह निर्णय किसी शक्तिशाली का है या दुर्बल का। इसका यह अर्थ नही है कि मूर्ख और विद्वान के निर्णयो का एक-सा महत्त्व है। किन्तु विद्वान के निर्णय को इसीलिए अधिक महत्त्व दिया जाता है कि वह सचाई के अधिक समीप होता है। उसमें कहनेवाले व्यक्ति की मुख्यता नही रहती, किन्तु उसके ज्ञान की मुख्यता रहती है।

निर्णयो को मोटे तौर पर तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है

१. वस्तु-लक्षी : वे निर्णय, जो किसी वस्तु के स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं। इनमे मतभेद का कारण होता है दृष्टि-भेद। एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति भिन्न दृष्टियो से देखते हैं। प्रत्येक की दृष्टि मे आशिक सत्य होता है। अत किसीको मिथ्या नही कहा जा सकता। प्रत्युत वे सभी दृष्टिया मिलकर ही सम्पूर्ण सत्य का दर्शन कराती है। इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि को महत्त्व देता है किन्तु सच्चा उसे कहा जायगा, जो अपनी दृष्टि को महत्त्व देते हुए भी दूसरी दृष्टियो का निराकरण नही करता। उदाहरण के रूप मे, एक ही स्त्री विविध व्यक्तियो की दृष्टि से माता भी है, पत्नी भी है, वहन भी है और पुत्री भी है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सम्बन्ध के अनुसार व्यवहार करता है। किन्तु यदि वह दूसरे सम्बन्धो का खण्डन करने लगता है तो सत्य से हट जायगा।

इसी प्रकार हमारे निर्णय, स्थान, समय, परिस्थिति आदि की दृष्टि से भी बदलते रहते है। जैन दर्शन मे इनके लिए चार अपेक्षाए बताई गई है

१ द्रव्य अर्थात वस्तु का निजी रूप
२ क्षेत्र अर्थात स्थान विशेष
५ काल अर्थात समय विशेष
४ भाव अर्थात अवस्था विशेष

जो व्यक्ति अपना निर्णय करते समय इन अपेक्षाओ को सामने रखता है, वही सचाई पर पहुचता है।

२ **कर्तव्य-लक्षी निर्णय :** निर्णयो का दूसरा प्रकार कर्तव्य से सम्बन्ध रखता है, जहा यह निश्चय कराना होता है कि क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। ऐसे निर्णयो के लिए अनुभवी व्यक्तियो के परामर्श को महत्त्व दिया जाता है, किन्तु अन्तिम निर्णय अपने ही हाथ मे रहता है। लोकतन्त्र मे प्रथम प्रकार के निर्णय विशेषज्ञो के हाथ मे रहते है और द्वितीय प्रकार के बहुमत के हाथ मे। किन्तु बहुमत पुराने अनुभवो का पूरा ध्यान रखता है।

३ **रुचि-लक्षी निर्णय .** निर्णयो का तीसरा प्रकार हमारी रुचि से सम्बन्ध रखता है। हमे एक वस्तु सुन्दर लगती है और दूसरी कुरूप, एक अच्छी और दूसरी बुरी। यहा युक्ति या तर्क के लिए स्थान नही है। लोकतन्त्र मे ऐसे निर्णय केवल बहुमत के आधार पर किये जाते है। वहा प्रत्येक व्यक्ति के मत का, वह मूर्ख हो या विद्वान, सम्पन्न हो या दरिद्र, शक्तिशाली हो या दुर्बल एक-सा महत्त्व होता है। लोकतन्त्र का तकाज़ा है कि व्यक्ति अपनी रुचि और भावनाओ को जितना महत्त्व देता है उतना ही दूसरे की रुचि और भावनाओ को भी दे।

समता के बाह्य रूप

ब्राईस ने समता को नीचे लिखे चार भागो मे विभक्त किया है .

१ नागरिक समता
२ राजनैतिक समता

३. सामाजिक समता
४ प्राकृतिक समता

इस विभाजन के साथ आर्थिक समता को भी जोडा जा सकता है। इस प्रकार बाह्य समता के पाच रूप हो जाते है।

१ नागरिक समता . प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का नागरिक है और इस आधार पर उसे बहुत से अधिकार प्राप्त होते है। नागरिक समता का अर्थ है उन अधिकारो मे किसी प्रकार का भेद-भाव न होना। राष्ट्र की ओर से शिक्षा, सुरक्षा, विकास का अवसर आदि जो सुविधाए दी जाय उनमे धर्म, वर्ण, जाति या सम्पत्ति के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नही होना चाहिए। किसी एक वर्ग की स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरे वर्ग के हितो को कुचलना नागरिक समता के विरुद्ध है। कानून की दृष्टि मे सब व्यक्ति समान है। अपराधी होने पर प्रत्येक को एक-सा दण्ड मिलना चाहिए और योग्यता होने पर प्रत्येक के लिए ऊचे-से-ऊचा पद खुला रहना चाहिए।

२ राजनैतिक समता . राजनैतिक समता का अर्थ है, शासन-व्यवस्था मे समान अधिकार। किन्तु यह सम्भव नही है कि प्रत्येक प्रश्न पर राष्ट्र के समस्त नागरिक एकत्र होकर विचार कर सकें। यह बात किसी छोटे से नगर या मोहल्ले मे ही हो सकती है। अत विशाल राष्ट्र की जनता प्रतिनिधियो को चुनती है और अपना अधिकार उनके हाथ मे दे देती है। ऐसी स्थिति मे समानता का अर्थ है, प्रत्येक योग्य व्यक्ति के मत का एक-सा मूल्य। यहा योग्य शब्द का अर्थ समझदार है। पागल या नासमझ व्यक्ति यह नही जानता कि उसके मत का क्या अर्थ है। अत वह अपने-आप उस अधिकार से वचित हो जाता है। इसी प्रकार जो अपराधी है, वह समाज-विरुद्ध कार्य करने के कारण नागरिकता या सामाजिकता के अधिकार को खो देता है। इस प्रकार की अयोग्यता न रहने पर प्रत्येक व्यक्ति के मतका एक-सा मूल्य है। वह धनवान हो या दरिद्र, उच्चपदाधिकारी हो या मजदूर, सत्तारूढ दल का सदस्य हो या अन्य किसी दल का, इन आधारो पर उसके मत के मूल्याकन मे किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नही होती।

राजनैतिक समता का दूसरा अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जनता का समर्थन एव योग्यता प्राप्त करके ऊचे-से-ऊचे पद पर पहुचने का अधिकार है। इसमे अन्य कोई तत्त्व बाधक नही है।

३. **सामाजिक समता** . सामाजिक समता का निरूपण किया जा चुका है। इसका अर्थ है जन्म, वर्ग, धर्म या सम्पत्ति के आधार पर एक व्यक्ति को नीचा तथा ऊचा नही मानना चाहिए।

४ **प्राकृतिक समता** : प्राकृतिक समता का अपने-आप मे कोई अर्थ नही है। यह पहले बताया जा चुका है कि बुद्धि, शारीरिक शक्ति, स्वभाव आदि के कारण व्यक्तियो मे जो परस्पर भेद है, उसे नही मिटाया जा सकता। फिर भी प्राय देखा गया है कि सामाजिक या आर्थिक भेद को प्राकृतिक भेद मानकर उसका समर्थन किया जाता है। यह अनुचित है। हमे यह पता लगाना होगा कि विषमता के कौन से तत्त्व ऐसे हैं, जिन्हे एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को दबाने के लिए स्वय खडा किया है। इन कृत्रिम तत्त्वो को स्वाभाविक नही माना जा सकता।

आर्थिक समता

आर्थिक समता की परिभाषा मे पर्याप्त मतभेद है। एक ओर साम्यवाद का कथन है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त कर देना चाहिए। भूमि, कल-कारखाने आदि धनोपार्जन के समस्त साधनो पर राज्य का अधिकार हो और राज्य ही समान रूप से जीवन-सुविधाओ का वितरण करे। दूसरी ओर स्वतन्त्र उद्योगवादी राष्ट्रो का कथन है कि इस प्रकार की शासन-व्यवस्था वैयक्तिक स्वाधीनता पर आघात है। अत राज्य की मर्यादा यही तक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उचित अवसर तथा सुविधाए प्राप्त हो। उन सुविधाओ से लाभ उठाना उसकी निजी योग्यता पर निर्भर है। एक व्यक्ति उन्ही सुविधाओ को प्राप्त करके लखपति बन जाता है और दूसरा उनसे कोई लाभ नही उठाता। इस विषमता पर शासन का नियन्त्रण नही होना चाहिए। साम्यवाद स्वाधीनता की उपेक्षा करके समानता को लाना चाहता है। दूसरी ओर पूजीवाद स्वाधीनता या स्वतन्त्र उद्योग को महत्त्व देता है और इसके

लिए समानता की उपेक्षा करने के लिए तैयार है। यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की सामग्री अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। ऐसी आर्थिक व्यवस्था नही होनी चाहिए, जहा निर्वाह के लिए एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की गुलामी करनी पड़े। इसका अर्थ है जीवन का निम्नतम स्तर निश्चित हो और उस स्तर पर सब समान हो अर्थात ऐसा कोई न हो, जिसे उतनी भी सुख-सुविधा प्राप्त नही है। उससे ऊपर उठने का क्षेत्र सब के लिए खुला हो। एक व्यक्ति विद्वान बनना चाहता है और दूसरा धनवान। दोनो की मौलिक आवश्यकताए एक-सी हैं। उनके पूर्ण हो जाने पर किसीके विकास पर प्रतिबन्ध लगाना अनुचित होगा। यह तभी लगाया जा सकता है जब एक का विकास दूसरे के विकास मे बाधा उपस्थित करे।

समता और स्वतन्त्रता

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी समता के इसी आधार पर आश्रित है। समाज व्यक्तियो का समूह है। यदि व्यक्ति का अधिकार छिन जाता है तो समाज अपने-आप अधिकारहीन हो जाता है। इस तथ्य को गणित के आधार पर प्रकट किया जा सकता है। "करोड" की तुलना मे एक की सख्या नगण्य है। किन्तु 'करोड' का अपने-आप मे कोई अस्तित्व नही है। बहुत-से एक मिलकर ही करोड बनते है। यदि एक अधिकारहीन है तो 'करोड' अपने-आप अधिकारहीन हो जायगा। जहा व्यक्ति का अधिकार छीनकर समाज पर बल दिया जाता है, वहा वास्तव मे देखा जाय तो न व्यक्ति का अधिकार रहता है और न समाज का। वह एक ऐसे अधिनायक के हाथ मे चला जाता है जो समाज का नाम लेकर तानाशाही करता है। वहा समता का अर्थ हो जाता है सबकी स्वतन्त्रता को समाप्त करके शक्ति का किसी एक के हाथ मे केन्द्रित होना। इस प्रकार एक के मत की तुलना मे करोड का मत महत्त्वहीन हो जाता है। यहा एक करोड मे समता होने पर भी उसका कोई मूल्य नही रहता। इसका अर्थ है—निर्जीव समता अर्थात मनुष्य को प्राणहीन बनाकर एक भूमिका पर लाना। समता वास्तविक

तभी हो सकती है, जब उसके साथ स्वतन्त्रता भी हो और व्यक्तित्व पर प्रहार न किया जाय।

विषमता और उसके कारण

मनुष्य मे दो वृत्तिया स्वाभाविक है। पहली स्वार्थ-वृत्ति है। प्रत्येक मनुष्य अपने सुख-दुख का ध्यान रखता है और इसके लिए दूसरे के सुख-दुख की परवाह नही करता। इतना ही नही, दूसरे को दुख देकर भी अपने सुख की वृद्धि करना चाहता है। दूसरी वृत्ति अस्मिता या अहकार की है। प्रत्येक मनुष्य अपने को दूसरे से ऊचा सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। जहा यह सम्भावना होती है कि उसे नीचा देखना पडेगा, उन बातो पर लीपा-पोती करने की कोशिश करता है। इन दो वृत्तियो ने मनुष्य और मनुष्य के बीच विषमता खडी करदी। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगा। सत्तारूढवर्ग ने मिथ्याधिकार का समर्थन प्राप्त करने के लिए बुद्धिजीवी वर्ग को भी अपने साथ मिला लिया और धर्म, राज्य एव समाज सभी क्षेत्रो मे विषमता खडी कर दी। शोषक-वर्ग की कृपा पर निर्भर रहना शोषित-वर्ग का धर्म समझा जाने लगा और उसका मानवोचित अधिकारो को लिए सिर उठाना पाप बताया गया।

प्राचीन मानव को अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए दो तत्त्वो से सघर्ष करना पडा। पहला तत्त्व प्रकृति है और दूसरा मानवान्तर। पुरातन काल मे प्राय विजयी मानव-समूह पराजित मानव-समूह को समाप्त कर देता था और उसके अधिकृत प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेता था। क्रमश विजयी मानव ने यह अनुभव किया कि पराजित जाति को नष्ट करने के स्थान पर यदि उसे दास बना लिया जाय तो अधिक लाभ हो सकता है। उसे अपनी सुख-वृद्धि का साधन बनाया जा सकता है। परिणामस्वरूप, एक मानव दूसरे की सुख-सामग्री बन गया। एक भोक्ता बन गया और दूसरा भोग्य।

इस विषमता के विरुद्ध समय-समय पर जो क्रान्तिया हुई, उन्होने लोकतन्त्रीय भावना को उत्तरोत्तर आगे बढाया। प्रत्येक क्रान्ति के

सामने विषमता का जो रूप था, उसीको लक्ष्य मे रखकर समता की व्याख्या की गई।

समता और प्रतिस्पर्द्धा

प्रतिस्पर्धा प्रगति का आवश्यक तत्त्व है। वह मनुष्य को आगे बढने के लिए प्रेरित करता है। इस भावना का पोषण दो प्रकार से किया जाता है। पहला प्रकार हिंसात्मक है, जहा व्यक्ति दूसरे को मार कर, लूट कर, उसकी प्रगति को रोककर, उसे नीचे गिराकर या उसका शोषण करके अपने को तृप्त करता है। दूसरा प्रकार अहिंसात्मक है, जहा व्यक्ति दूसरे को गिराने के स्थान पर स्वय ऊचा उठने की कोशिश करता है। ऐसी स्थिति मे प्रतिस्पर्द्धा बुरी नही है। असभ्य मानव दूसरे को मारकर इसकी पूर्ति करता रहा। राज्य-सस्था के स्थापित होने पर इस की पूर्ति युद्धो द्वारा होने लगी। दूसरी ओर, प्रजाजन अहिंसक उपायो की ओर झुकने लगे। इन्ही उपायो के रूप मे पचायतो और न्यायालयो की स्थापना हुई। विद्या तथा कला के क्षेत्र मे इस भावना की पूर्ति शास्त्रार्थो एव प्रतियोगिताओ द्वारा होती रही। धर्माचार्य शास्त्रार्थ के अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्र एव दैवी सिद्धियो का भी प्रयोग करने लगे और चमत्कार दिखाकर राजा तथा प्रजा को अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था मे इसकी पूर्ति चुनाव एव अन्य प्रकार के वैधानिक सघर्षो द्वारा की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र मे हिंसा से अहिंसा की ओर बढ रहा है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि यदि हिंसा-वृत्ति को न अपनाया जाय और दूसरे को गिराने के लिए छलकपट न किया जाय तो प्रति-स्पर्द्धा अपने-आपमे बुरी नही है, प्रत्युत प्रगति की प्रेरक है। यदि एक व्यक्ति समाज-सेवा द्वारा दूसरे से आगे बढ जाता है और अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है तो इसे बुरा नही कहा जा सकता। बुराई तभी है, जब उसका लक्ष्य या उपाय हिंसा लिये हुए हो। लक्ष्य मे हिंसा का अर्थ है दूसरे को गिराने की भावना और उपाय मे हिंसा का अर्थ है छल-कपट आदि अवैध उपायो का अवलम्बन। यदि उपेय तथा उपाय

दोनो हिंसा रहित है तो प्रतिस्पर्द्धा हेय नही है। यह बात दूसरी है कि उच्च भूमिका पर इसकी आवश्यकता न रहे। किन्तु साधारण भूमिका पर यह जीवन को प्रेरणा देनेवाला शक्तिशाली तत्त्व है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता।

उपसहार

पिछले विवेचन से हम नीचे लिखे निष्कर्ष पर पहुचते है

१ समता लोकतन्त्र की मूलभावना है, किन्तु इसका अर्थ वाह्य-समता नही है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न होती है और सब की तृप्ति एक ही वस्तु से नही हो सकती। अत समता का अर्थ है उसे अपनी रुचि पूर्ण करने की क्षमता प्रदान करना। साथ ही उसके शारीरिक या किसी अन्य दृष्टि से दुर्बल होने पर उचित सहायता प्रदान करना। इस प्रकार समता पर मित्रता का नियन्त्रण होजाता है। माता का सब बच्चो के प्रति समान व्यवहार होता है फिर भी वह भिन्न रुचि का ध्यान रखती है और दुर्बल बच्चे की विशेष सहायता करती है। इसके विना समता सुख के स्थान पर दुख का रूप ले लेती है।

२ मानव जिस प्रकार समाज-जीवी प्राणी है उसी प्रकार व्यक्ति-जीवी भी है। समाज के लिए व्यक्ति की उपेक्षा नही की जा सकती। इतना ही नही, व्यक्ति का विकास हुए विना समाज का विकास नही हो सकता। वैयक्तिक-विकास के लिए स्वतन्त्र क्षेत्र की आवश्यकता है। उस पर नियन्त्रण वही हो सकता है, जहा एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करे। अत मानवीय समता मे स्वतन्त्रता की अवहेलना नही की जा सकती।

३ समता का तीसरा अर्थ न्याय है। इसके दो रूप है। पहला निषेधात्मक है अर्थात एक व्यक्ति या समाज को दूसरे व्यक्ति या समाज पर अत्याचार करने से रोकना। दूसरा विध्यात्मक है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को पुरुपार्थ के अनुरूप फल प्रदान करना।

४ आध्यात्मिक समता का अर्थ है 'स्व' तथा 'पर' मे समता, मन-वाणी एव कर्म मे समता।

५ सामाजिक समता का अर्थ है वर्ण, जाति, राष्ट्र, लिंग, धर्म आदि किसी ऐसे कारण के आधार पर वैषम्य न होना, जिसके लिए व्यक्ति स्वय उत्तरदायी नही है।

६ राजनैतिक समता का अर्थ है शासक और शासित मे किसी प्रकार का भेद न होना।

७ आर्थिक समता का अर्थ है श्रमिक को अपने श्रम का पूरा लाभ प्राप्त होना।

: ६ :

न्याय

लोकतन्त्र की चौथी मूलभावना न्याय है। बृहदारण्यक उपनिषद मे आया है कि परमात्मा ने चार वर्णो की रचना की और वह उससे आगे नही बढा। उसने देखा कि क्षत्रिय वर्ग अत्यन्त प्रबल है और वह दूसरो का उत्पीडन करेगा। अत किसी ऐसी शक्ति का निर्माण करना चाहिए, जो क्षात्रशक्ति को दबा सके। इस उद्देश्य से न्याय की रचना हुई। इसके द्वारा दुर्बल भी प्रबल को दबा सकता है। यह शक्ति क्षत्रिय पर भी नियन्त्रण रखती है जो कि आग से भी अधिक तेजस्वी होता है।

न्याय शब्द सस्कृत की 'ई' धातु से नी उपसर्ग लगाने पर बना है। इसका अर्थ है वापस जाना। इस व्युत्पत्ति को लक्ष्य मे रखकर न्याय शब्द के अनेक अर्थ हो गए हैं। पहला अर्थ है किसी समस्या का समाधान करने के लिए अपनाई जानेवाली पद्धति। उदाहरण के रूप मे 'दग्धाश्व रथन्याय' को प्रस्तुत किया जा सकता है। दो राजा अपने-अपने रथ मे बैठकर शिकार खेलने गये। जगल मे आग लगने के कारण एक का घोडा जल गया और दूसरे का रथ। वापस लौटने के लिए दोनो ने समझौता कर लिया और बचे हुए घोडे को रथ में जोड दिया गया। इस प्रकार, जहा एक वस्तु दूसरी वस्तु की पूरक बन जाती है और दोनो को मिलाकर निर्वाह करना होता है, उसके लिए इस न्याय

का प्रयोग होता है। सस्कृत-साहित्य मे इस प्रकार के सैकडो न्यायो का वर्णन है। जीवन-पद्धति को भी न्याय कहा जाता है। उदाहरण के रूप मे, जगल के न्याय या मत्सगलागल न्याय को प्रस्तुत किया जा सकता है। जगल मे बलवान प्राणी निर्बल प्राणियो को मारकर खा जाते है। बडी मछलिया छोटी मछलियो को निगल जाती है। इसी प्रकार, जिस व्यवस्था का आधार बल-प्रयोग या हिसा है उसके लिए इन न्यायो का प्रयोग होता है। मीमासा-दर्शन मे उन सिद्धान्तो को न्याय कहा गया है जिनके द्वारा अनुष्ठान सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाया जाता है। तर्क-शास्त्र के लिए भी न्याय शब्द का प्रयोग होता है। इसका अर्थ है वस्तु का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनाये जानेवाले सिद्धान्त।

दैनन्दिन व्यवहार मे व्यक्तियो के स्वार्थ परस्पर टकराते रहते है और समस्याए खडी होती रहती हैं। जो सिद्धान्त परस्पर व्यवहार की इन समस्याओ को सुलझाते है, उन्हे भी न्याय कहा जाता है। राज-नीति, समाज तथा अर्थ-व्यवस्था मे न्याय शब्द का यही अर्थ लिया जाता है। इन सिद्धान्तो का मुख्य आधार क्या है, इस विषय मे चिर-काल से अनेक मान्यताए चली आ रही है। कही राजकीय आज्ञा को इसका आधार माना गया, कही परम्परा को, कही पुस्तक विशेष को, कही शासक या धर्मगुरु की स्वतन्त्र इच्छा को, कही नैतिक नियमो को और कही सार्वजनिक सुख को। आधार मे परिवर्तन के साथ न्याय का रूप भी बदलता गया।

न्याय और धर्म

प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार न्याय अपने-आपमे लक्ष्य नही है। किन्तु लक्ष्य पर पहुचने का मार्ग है। इसकी उपादेयता लक्ष्य की उपा-देयता पर निर्भर है। इसकी तुलना मे दूसरा शब्द 'धर्म' है। इसका अर्थ है वह सिद्धान्त जो जीवन को धारण किये हुए है। न्याय जीवन का सचालन करता है और धर्म उसे टिकाये रखता है। उदाहरण के रूप मे, अहिसा धर्म है और समता न्याय है। यदि सचालन धर्म के अनुकूल है, तो वह जीवन को दृढता और शक्ति प्रदान करता है और यदि

प्रतिकूल है तो पतन एव विनाश की ओर ले जाता है। वह लक्ष्य को नही प्राप्त करा सकता। अतः उसे अन्याय कहा जाता है। इसी आशय को लेकर कालान्तर मे न्याय शब्द का अर्थ हो गया परस्पर व्यवहार का वह शाश्वत नियम, जो व्यक्ति एव समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है।

प्राचीन भारत मे धर्म जीवन का व्यापक तत्त्व रहा है। राजनीति, समाज तथा अर्थ-व्यवस्था भी धर्म मे ही सम्मिलित थे। उस समय न्याय धर्म का अग था। किन्तु धीरे-धीरे इन दोनो मे विभाजन हो गया। धर्म आध्यात्मिक समता पर बल देने लगा और न्याय लौकिक समता पर। धर्म का कथन है कि बाह्य स्वार्थों का परित्याग करके भी आत्म-शान्ति का सरक्षण करना चाहिए। दूसरी ओर न्याय का उद्देश्य बाह्य स्वार्थो का सरक्षण है। जहातक निषेध का प्रश्न है धर्म और न्याय एक हो जाते है। जो कार्य न्याय की दृष्टि मे अपराध है, वही धर्म की दृष्टि मे पाप है। किन्तु दोनो की मूल प्रेरणा मे अन्तर है। न्याय भौतिकस्वार्थ का सरक्षण करने के लिए विधि-सम्मत सघर्ष करने की अनुमति देता है। वहा राग-द्वेष आदि भावनाओं का विशेष मूल्य नही है। किन्तु धर्म भावना-शुद्धि पर बल देता है, चाहे उसके लिए भौतिक स्वार्थ का परित्याग करना पडे। अन्य शब्दो मे यों कहा जा सकता है कि न्याय धर्म की पहली सीढी है। न्याय का पालन करने के लिए मनुष्य बाधित है। अन्यथा उसे समाज मे रहने का अधिकार नही है, किन्तु धर्म व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है। उसके लिए किसी को बाधित नही किया जा सकता। अपना अधिकार छोडने के लिए किसी को बाधित करना अपने-आप मे अन्याय है। किसी को आत्म-त्याग के लिए विवश नही किया जा सकता, किन्तु न्याय के लिए किया जा सकता है।

न्याय का उद्देश्य समता के आधार पर स्वार्थो का सरक्षण है। इस के लिए वह प्रत्येक व्यक्ति से कर्तव्य एव नियम-पालन की अपेक्षा रखता है। यदि व्यक्ति अपना कर्तव्य-पालन नही करता तो न्याय उसके स्वार्थों की रक्षा नही कर सकता। इसके विपरीत धर्म का आधार अतरात्मा का विकास है, जहा स्वार्थों का सघर्ष समाप्त हो जाता है, वहा व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता है। पराधीनता या विवशता के आधार पर किया

जानेवाला धर्म, धर्म नही रहता। वह हिंसा या पाप बन जाता है। वहा धर्मपालन करानेवाला अत्याचारी कहा जायगा और करनेवाला कायर एव भयभीत। दोनो ही धर्म की आत्मा के विरुद्ध है। स्वेच्छापूर्वक प्राणो का उत्सर्ग भी धर्म है और विवशता मे काटा चुभना भी पाप है। अत यह कहा जायगा कि स्वतन्त्रता धर्म का मूल तत्त्व है, किन्तु यह स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नही लगाती। यहा समानता के लिए स्वतन्त्रता को सकुचित करने की आवश्यकता नही होती। इसके विपरीत न्याय मे समानता और स्वतन्त्रता का परस्पर नियन्त्रण रहता है। न्याय बाह्य व्यवहार या सामाजिक सदाचार का नियामक है और धर्म-आन्तरिक सदाचार का। व्यवहार-शुद्धि आन्तरिक-शुद्धि की पहली सीढी है। दोनो जीवन-विकास के अनिवार्य तत्त्व हैं। प्राचीन भारत मे धर्म की व्याख्या दोनो शुद्धियो को लक्ष्य मे रखकर की जाती थी।

धार्मिक परम्पराओ मे न्याय के अनेक रूप मिलते है। सक्षेप मे, उन्हे दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है। पहला रूप वह है, जहा ईश्वर, अनादि परम्परा या पुस्तक विशेष को न्याय का आधार माना गया। इन रूपो मे न्याय का आधार समता नही है और न मनुष्य को स्वतन्त्र होकर सोचने का अधिकार है। दूसरा रूप वह है, जहा अहिंसा, सत्य आदि नैतिक सिद्धान्तो को न्याय का आधार माना गया। वहा व्यक्ति और व्यक्ति मे किसी प्रकार का भेद नही है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक नियमो के आधार पर स्वतन्त्र होकर सोचने का पूरा अधिकार है।

न्याय और समाज

समाज मे न्याय का अर्थ है रूढि या परम्परा। जो व्यवहार अपने-आप मे विषमता या अन्यायपूर्ण है, फिर भी यदि उसे परम्परा का समर्थन प्राप्त है तो सामाजिक दृष्टि से अन्याय नही माना जाता। उदाहरण के रूप मे, अस्पृश्यता, स्त्रियो के प्रति हीन-भावना तथा गुलाम-प्रथा अपने-आप मे अन्याय थे, फिर भी परम्परा के कारण न्याय मान लिये गए। जब कोई शक्तिशाली तत्त्व परम्परा के विरुद्ध आन्दोलन खडा करता है

तो प्रारम्भ मे उसका व्यवहार अन्याय समझा जाता है। किन्तु समाज की स्वीकृति प्राप्त होते ही वह न्याय बन जाता है।

न्याय और राजनीति

राजनीति मे न्याय का अर्थ है इन्साफ, अर्थात प्रबल द्वारा दुर्बल के सताये जाने पर प्रबल को दिये जानेवाले दण्ड का आधार। इसीको विधि या कानून कहा जाता है। यह आधार सर्वत्र एक-सा नही रहा और यह भी नही कहा जा सकता कि वह अपने-आप मे न्यायपूर्ण रहा है। फिर भी न्याय का निर्णय उसीको लक्ष्य मे रखकर होता रहता है।

राजनीति की दृष्टि मे प्रत्येक व्यक्ति को जीने अर्थात अपने आन्तरिक तथा बाह्य अस्तित्व की रक्षा का पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति की यह माग है कि कोई उसके प्राणो का अपहरण न करे, उसे शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट न दे, उसे कलकित या अपमानित न करे, विश्वास-घात न करे और उसकी स्वाधीनता का अपहरण न करे। उपर्युक्त अधिकारो मे बाधा पडने पर प्रत्येक व्यक्ति को उसके विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार है। राजनीति की दृष्टि मे न्याय का अर्थ है उसकी पुकार को सुनना और आक्रामक को उचित दण्ड देना। इस दण्ड-व्यवस्था मे किसी प्रकार की विषमता नही होनी चाहिए, अर्थात दण्ड देते समय यह नही सोचना चाहिए कि अपराधी कौन है और पीडित कौन है। वह धनवान हो या दरिद्र, उच्च कुल से सम्बन्ध रखता हो या सर्व-साधारण से, इन आधारो पर न्याय मे किसी प्रकार का भेद नही होना चाहिए।

न्याय और अर्थ-व्यवस्था

आर्थिक क्षेत्र मे न्याय का अर्थ है व्यवहार-शुद्धि अर्थात लेन-देन मे ईमानदारी। किन्तु इसके भी रूप बदलते रहते है। उदाहरण के रूप मे, जब मजदूरो की कमी होती है तो एक दिन की मजदूरी तीन या चार रुपये हो जाती है। बेकारी के समय वही घटकर एक रुपया हो जाती है और बाजार भाव के अनुसार चुकानेवाला मालिक अन्यायी नही कहा

जाता। इसी प्रकार वस्तुओ के मूल्य भी घटते-बढते रहते हैं। इतना ही नही, मुनाफा कमाने के लिए कृत्रिम माग उत्पन्न की जाती है, दूसरी ओर बेकारी का वातावरण बनाया जाता है। आर्थिक क्षेत्र मे इन हथकडो को अन्याय नही कहा जाता। अन्याय तभी है, जव वादे के अनुसार मूल्य न चुकाया जाय। वादे का अपने-आप मे अन्यायपूर्ण होना अन्याय नही समझा जाता। लोकतन्त्र का लक्ष्य है जीवन मे ऐसे सिद्धान्तो को लाना, जो अपने-आपमे न्याय है, जिनका सचालन वैयक्तिक स्वार्थ, रूढियो तथा अतीन्द्रिय शक्तियो द्वारा नही होता, किन्तु लोकतन्त्र स्वय करता है।

लोकतन्त्रीय अर्थ-व्यवस्था मे श्रम का मूल्याकन किस आधार पर होना चाहिए, यह एक गम्भीर प्रश्न है। स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करनेवाले पूजीवादी राष्ट्रो का कथन है कि इसपर राज्य की ओर से किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होना चाहिए। परस्पर जो समझौता हो जाय उसका पालन ही न्याय है। दूसरी ओर नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करनेवाले साम्यवादी राष्ट्रो का कथन है कि श्रम का मूल्य-निर्धारण श्रमिक की आवश्यकता के आधार पर होना चाहिए, उत्पादन या समझौते के आधार पर नही। वास्तव मे देखा जाय तो जीवन की मौलिक आवश्यकताओ के लिए जबतक एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अधीन रहेगा, तबतक न्याय नही हो सकता। जहा एक ओर विवशता है और दूसरी ओर अनर्गल लोभ, उस समझौते मे न्याय नही हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन की मौलिक चिन्ताओ से मुक्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र तथा निवास की सुविधाए प्राप्त हो और इसके लिए उससे उचित श्रम लिया जाय। इसपर राज्य का नियन्त्रण रहे। किन्तु मौलिक आवश्यकताए पूर्ण होने पर भी जब व्यक्ति महत्त्वाकाक्षा के क्षेत्र मे उतरना चाहता है और उसके लिए सघर्ष करता है तो वहा उसे खुली छूट मिलनी चाहिए। वहा समझौता ही न्याय है।

जब सम्पत्ति अपने परिश्रम के स्थान पर उत्तराधिकार, चोरी, षडयन्त्र अथवा किसी अन्य अवैध उपाय द्वारा प्राप्त की जाती है,

धनवान अन्य वर्ग के प्रति सहानुभूति के स्थान पर उसे कष्ट देने लगता है, अहकार का मिथ्या प्रदर्शन करता है, तो वर्गसघर्ष होने लगता है। यह भी देखा गया है कि धनवान पैसे के बल पर उन स्थानो को प्राप्त कर लेता है, जिनका वह अधिकारी नही है। साहित्यिक के श्रम एव प्रतिभा को खरीदकर वह साहित्यकार बन जाता है। ऐसे सगठनो का अध्यक्ष बन जाता है, जो त्याग को सर्वोपरि स्थान देते है। शिक्षा-सस्थाए, सामाजिक तथा राजनैतिक सगठन पैसे के लिए उसे प्रतिष्ठा तथा सम्मान देने लगते है। परिणामस्वरूप, धनवान एक ओर उन कमियो को भूल जाता है, जिन्हे अनुभव करने पर उसके जीवन मे नम्रता आती। दूसरी ओर, वह वर्ग गुणी होने पर भी जी मसोस कर रह जाता है, जिसका सम्मान गुणहीन द्वारा छीन लिया गया। पैसे की इस क्रूर सत्ता को देखकर सत्रस्त मानव विद्रोही बन जाता है और रक्त-रजित क्रान्ति की तैयारी करने लगता है, जो समाज तथा राष्ट्र को छिन्न-भिन्न कर डालती है। हडतालें, ताले-बन्दिया, लूट तथा अन्य उपद्रव इसी आर्थिक विषमता की देन हैं, जिन्होने वर्तमान शताब्दी को अत्यन्त क्षुब्ध कर रखा है। जबतक यह विषमता रहेगी, जबतक जीवन का लक्ष्य बाह्य भोग एव कामना-पूर्ति बनी हुई है, तबतक इनका अन्त नही हो सकता।

न्याय के मूल सिद्धान्त

न्याय के मूल सिद्धान्तो को नीचे लिखे शब्दो मे प्रकट किया जा सकता है

१ जो सुविधा तुम प्राप्त करना चाहते हो, दूसरे को भी उसे प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है।

२ जो नियम या प्रतिबन्ध लगाया जाय, व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे स्वीकार करे। बाह्य व्यवहार मे विषमता होने पर भी उसका आधार ऐसा न हो, जिससे दूसरे की अन्तरात्मा को आघात लगे अथवा जिसे सार्वजनिक नियम न बनाया जा सके।

३ कोई व्यक्ति यह न समझे कि मैं किसी अन्य शक्ति के हाथ मे

कठपुतली हू । वह स्वय अपने-आपको समाज-यन्त्र का सचालक समझे और तदनुसार कर्तव्य एव उत्तरदायित्व दोनो का अनुभव करे ।

४ किसी व्यक्ति को यह न अनुभव हो कि उसका जीवन किसी अन्य व्यक्ति के लिए है । दूसरे के लिए कार्य करते समय भी उसमे सहयोग की भावना हो, पराधीनता या दास-वृत्ति की नही । मनुष्यो मे परस्पर एक साधन और दूसरा साध्य न रहे ।

५ प्रत्येक व्यक्ति के समान अधिकार हो और समान उत्तरदायित्व । इनमे भेद का आधार योग्यता हो, व्यक्ति नही ।

न्याय के उपर्युक्त सिद्धान्त निर्विवाद और शाश्वत है । फिर भी मानव उनसे दूर है । हम पद-पद पर उनकी अवहेलना करते रहते है । स्वार्थवृत्ति न्याय को दबाती रहती है । कुछ दिन पहले एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को गुलाम बनाना अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझता था । अनेक राष्ट्रो ने दूसरे राष्ट्रो पर अपना अधिकार जमा रखा था और वे इसे न्यायपूर्ण अधिकार समझते थे । शक्तिशाली होना दुर्बल पर शासन करने का न्यायपूर्ण अधिकार माना जाता था । वर्तमान मानव समानता की ओर बढ रहा है और आदर्श के रूप मे उसकी दुहाई देता रहता है । किन्तु व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र के नाम पर पनपनेवाली स्वार्थ-वृत्ति समानता के उस सिद्धान्त को जीवन मे नही उतरने देती । प्रत्येक व्यक्ति उसकी व्याख्या अपने स्वार्थों के अनुसार करने लगता है । न्याय का पर्याय है निष्पक्षता, किन्तु स्वार्थ-वृत्ति निष्पक्ष नही रहने देती । इच्छाओ एव आवश्यकताओ के क्षेत्र मे भी पक्षपात आने लगता है । व्यवहार और विचार दोनो विषमतापूर्ण हो जाते है । धारणाए भी वैसी ही बन जाती है और अन्यायपूर्ण व्यवहार न्याय प्रतीत होने लगता है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी धारणाओ को सत्य मानने लगता है और दूसरे की धारणाओ को मिथ्या । इस प्रकार जाने-अनजाने न्याय की मूलभावना का खण्डन करने लगता है । बुद्धि पर पर्दा पड जाता है । वह अपने समस्त निर्णयो को सत्य मानने लगता है और दूसरे के निर्णयो को मिथ्या ।

लोकतन्त्र का लक्ष्य है व्यक्ति को विचार तथा व्यवहार दोनो मे

समता का पाठ सिखाना, अर्थात व्यक्ति जिस व्यवहार की दूसरे से अपेक्षा रखता है स्वय भी दूसरे के प्रति उसी व्यवहार का पालन करे। इसी प्रकार, अपने विचारो को जितना महत्त्व देता है, उतना ही दूसरे के विचारो को भी दे। उनकी स्वीकृति या अस्वीकृति का आधार सत्य हो, व्यक्ति नही। इसीका नाम लोकतन्त्रीय न्याय है।

न्याय और अधिकारो की तरतमता

ऊपर यह चर्चा की गई कि प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार प्राप्त है, किन्तु सभी अधिकार अपने-आप मे समान नही होते। प्रत्येक अधिकार का मूल्य एक-सा नही है। उनमे परस्पर सघर्ष होने पर एक के लिए दूसरे की उपेक्षा करनी पडती है। ऐसी स्थिति मे यह जानना आवश्यक है कि किस अधिकार का मूल्य अधिक है और किसका कम। इस निर्णय के लिए नीचे लिखे माप-दण्ड उपयोगी हैं :

१. जिस अधिकार पर अन्य सभी अधिकार आधारित है और उसके विना मूल्यहीन हो जाते है, वह अधिकार सर्वोपरि है। उदाहरण के रूप में, जीवन के विना सम्पत्ति एव अन्य सभी अधिकार व्यर्थ है। अत जीने का अधिकार सर्वोपरि है। उसका किसी अन्य अधिकार के लिए अपहरण नही होना चाहिए। वहुत से व्यक्ति कीर्ति, सम्मान या धन को अधिक महत्त्व देते हैं, किन्तु वे अपवाद रूप है। उन्हे साधारण नियम का आधार नही वनाया जा सकता।

जीवन का अधिकार सर्वोपरि है। उसका अपहरण तभी किया जा सकता है जव मनुष्य अपराधी के रूप मे स्वय उससे वञ्चित हो जाय। यदि वह अपराधी नही है तो उसके जीवन पर किसी दूसरे का अधिकार नही हो सकता। यहातक कि युद्ध या किसी सामाजिक कार्य के लिए भी उसका उपयोग तभी किया जा सकता है, जव वह स्वेच्छापूर्वक अपना जीवन अर्पित करने को तैयार हो। उपयोगितावाद का कथन है कि समाज के लिए व्यक्ति के जीवन का अपहरण अन्याय नही है। इसके दो रूप है। पहला रूप है व्यक्ति का अपराधी होना। उसके अस्तित्व का समाज की सुख-शान्ति मे वाधक होना। ऐसा व्यक्ति अपने अधिकार

को स्वय खो देता है, क्योकि वह दूसरो के सुख-शान्तिपूर्वक जीने के अधिकार को स्वीकार नही करता। ऐसी स्थिति मे राज-दण्ड द्वारा प्राणापहरण होने पर भी समता के सिद्धान्त का खण्डन नही होता। दूसरा रूप है अपराधी न होने पर भी व्यक्ति को किसी सार्वजनिक कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित करने को विवश करना। इसका अर्थ है, समाज या राजकीय शासन जीने के अपने अधिकार को तो स्वीकार करता है, किन्तु व्यक्ति को वह अधिकार नही देना चाहता। यह विषमता है और इस आधार पर किया गया प्राणो का अपहरण अन्याय है।

२ जीवन के पश्चात दूसरा अधिकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है। इसके भी दो रूप हैं—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। आन्तरिक स्वातन्त्र्य का अर्थ है किसी व्यक्ति को उसकी अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश नही किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा स्वय नैतिक सिद्धान्तो का पालन करना चाहती है। यह उसका स्वभाव है। इसके विपरीत बुराई की ओर वह बाह्य प्रभाव के कारण झुकती है। सामाजिक, राष्ट्रीय या अन्य कोई स्वार्थ हो, किसी व्यक्ति को उसकी अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश करना अन्याय है। उदाहरण के रूप मे, किसी को झूठ बोलने, चोरी करने या दूसरे की हत्या करने के लिए विवश करना अन्याय है। किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि न्याय के इस सिद्धान्त का पालन किया जा रहा है। सत्ता-सम्पन्न-वर्ग राष्ट्रीयता का नाम लेकर व्यक्ति की अन्तरात्मा को कुचल रहा है। न्याय का अर्थ है कोई भी ऐसा कार्य, जो व्यक्ति की अन्तरात्मा के विरुद्ध हो, उससे न लिया जाय। उदाहरण के रूप मे, (क) उसके विश्वासो पर आघात करना। उसे ऐसे धार्मिक या अन्य प्रकार के सिद्धान्त मानने के लिए विवश करना जिनमे उसका विश्वास नही है। सम्प्रदाय विशेष का अनुयायी वनने के लिए वाध्य करना। (ख) डाकू, चोर या हत्यारा वनने के लिए वाध्य करना अथवा इच्छा के विरुद्ध जल्लाद, कसाई या दूसरे को मारने-पीटने का काम देना। एक अधिकारी को यह आज्ञा दी जाती है कि इच्छा न होने पर भी वह युद्ध-बन्दियो पर गोली चलाये, उन्हे तरह-तरह की यातनाए दे। इस

प्रकार का कार्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध है। राजनैतिक दृष्टि से भी इसे अपनाने के लिए उसीको कहा जा सकता है, जो स्वेच्छापूर्वक तैयार हो।

यह अधिकार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना जीवन का अधिकार। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो इसका मूल्य जीवन से भी अधिक है। वहा भौतिक जीवन की तुलना मे आन्तरिक जीवन का महत्त्व अधिक है।

बाह्य स्वाधीनता मे सर्वप्रथम स्थान शारीरिक हलचल का है। जो व्यक्ति अपराधी नही है और जिसकी हलचल दूसरे की हलचल मे बाधक नही है उसे घूमने-फिरने और हाथ-पैर हिलाने का पूरा अधिकार है।

दूसरा स्थान स्वतन्त्र आजीविका का है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका चलाने के लिए इच्छानुसार धन्धा चुनने का अधिकार है, बशर्ते कि वह धन्धा किसी दूसरे के अधिकार या स्वाधीनता का अपहरण न करे। ऐसे धन्धे पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए।

राजनीति, धर्म, विज्ञान, कला आदि कोई क्षेत्र हो, उसकी प्रगति का इतिहास इने-गिने प्रतिभाशाली व्यक्तियो की देन है। एक क्रान्तिकारी या स्वतन्त्र विचारक अपनी प्रतिभा तथा त्याग के द्वारा जो कुछ प्राप्त करता है, वही आनेवाली पीढियो के लिए बहुमूल्य सम्पत्ति बन जाता है। वैयक्तिक स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ है उस सम्पत्ति से वचित होना। दूसरी बात यह है कि विश्व उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है। कल जिस बात का किसीको स्वप्न भी नही था, आज वह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। आकाशवाणी, दूर-दर्शन, अणु-शक्ति आदि आविष्कारो ने विश्व का रूप बदल दिया है। वे हमारे दैनन्दिन जीवन पर छा गए हैं। ऐसी स्थिति मे यह मानकर चलना कि वर्तमान व्यवस्था अन्तिम है और उसके आगे कोई कदम नही है, तथ्यो की उपेक्षा करना है। यह भी निश्चित है कि प्रगति का सूत्रपात व्यक्तियो द्वारा होता है, समाज द्वारा नही। अत वैयक्तिक स्वतत्रता प्रगति के लिए अनिवार्य है।

यहा एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। वैयक्तिक स्वतत्रता के दो अर्थ है—(१) जीवन की स्वतत्रता और (२) प्रवृत्ति की स्वतत्रता। जीवन की स्वतत्रता का मुख्य क्षेत्र है—विचार तथा वैयक्तिक रहन-सहन।

किन्तु प्रवृत्ति का अर्थ है सामाजिक व्यवहार। इस क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, क्योकि विभिन्न व्यक्तियो की प्रवृत्तिया एक-दूसरे से टकराती है। एक की स्वतन्त्र प्रवृत्ति दूसरे के लिए हिंसा या पराधीनता बन जाती है। ऐसी स्थिति मे नियन्त्रण आवश्यक है।

न्याय और विवादास्पद प्रश्न

पिछले पृष्ठो मे न्याय के विविध आधारो की चर्चा की गई। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि न्याय के सम्बन्ध मे प्राचीन समय से अनेक धारणाए चली आ रही है। वर्तमान युग मे भी इस प्रश्न को लेकर व्यापक मतभेद है। इसका मुख्य कारण है मूल्याकन के विविध दृष्टिकोण। एक व्यक्ति आत्मा को महत्त्व देता है और उसके लिए बाह्य सुखो की परवाह नही करता। उसकी दृष्टि मे अन्याय का अर्थ होगा वह व्यवहार, जो उसकी अन्तरात्मा को कष्ट दे। इसके लिए सम्पत्ति का अपहरण इतना बडा अन्याय नही है जितना उसे झूठ बोलने या नैतिक-पतन के लिए विवश करना। एक स्त्री अपने सतीत्व पर आक्रमण को सबसे बडा अन्याय मानती है। दूसरी ओर, धन-सम्पत्ति को महत्त्व देनेवाला व्यक्ति पैसे-पैसे के लिए झूठ बोलता रहता है। उसकी दृष्टि मे अन्याय का अर्थ है पैसे का अपहरण। साहस एव स्वाभिमान को महत्त्व देनेवाला व्यक्ति न्याय की कसौटी स्वतन्त्रता के आधार पर करता है। दूसरी ओर शान्ति प्रिय साधारण नागरिक सुरक्षा को अधिक पसन्द करता है। इस प्रकार, हम देखते है कि न्याय के विषय मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न धारणाए है। कोई जीवन को महत्त्व देता है, कोई सत्य को, कोई सुख को, कोई आत्म-सम्मान को और कोई शासन-व्यवस्था को।

अब हम कुछ ऐसे प्रश्नो की चर्चा करेंगे, जिन्हे लेकर विचारको मे पर्याप्त मतभेद है। अन्त मे उस दृष्टिकोण को उपस्थित करेंगे, जो इस मतभेद को दूर कर सकता है और वही लोकतन्त्रीय दृष्टिकोण है।

न्याय और नर-हत्या

इस विषय मे दो प्रकार की धारणाए मिलती है। एक पक्ष अहिंसा

को महत्त्व देता है और दूसरा राष्ट्रीयता या जातीयता को। प्रथम पक्ष का कथन है कि हिंसा प्रत्येक स्थिति मे बुरी है। अपराधियो को भी मृत्यु दण्ड नही देना चाहिए। एक व्यक्ति आवेश मे आकर दूसरे की हत्या कर डालता है, किन्तु क्रोध या आवेश समाप्त होने पर वही अहिंसक वन जाता है और अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगता है। उसमे भी वे ही अहिंसक वृत्तिया विद्यमान है, जो सन्तो मे होती है। ऐसी स्थिति मे उसे सुधरने का अवसर न देना और सदा के लिए जीवन से वचित कर देना न्याय नही है।

दूसरी ओर राष्ट्रीयतावादियो का कथन है कि अपने देश मे रहनेवाले एक व्यक्ति के प्राणो की तुलना मे शत्रु-देश के सैकडो प्राणो का कोई मूल्य नही है। इसी प्रकार समाज-व्यवस्था के लिए अपराधी को मृत्यु-दण्ड भी आवश्यक है।

हमे यह विचार करना है कि इन दो विचार-धाराओ में कौन-सी विचार-धारा न्याय के अधिक समीप है। हिंसात्मक उपाय द्वारा समस्या का तात्कालिक समाधान होनेपर भी स्थायी समाधान नही होता। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है और क्रमश शाश्वत विरोध का रूप धारण कर लेती है। अनेक राष्ट्रो और जातियो मे सैकडो वर्षों से परस्पर विरोध चला आ रहा है। जिन्होने अत्याचार किये, वे समाप्त हो गए और जिन पर अत्याचार हुआ वे भी समाप्त हो गए। फिर भी द्वेष चल रहा है और वह मानवता का अभिशाप वन गया है। यह सब हिंसात्मक समाधानो का ही कुत्सित परिणाम है। यदि हम न्याय का अर्थ स्थायी समाधान करते है तो हिंसात्मक नही हो सकता। लोकतन्त्र राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्त समस्याओ को अहिंसा के आधार पर सुलझाना चाहता है।

वास्तव मे देखा जाय तो समस्त मानवता एक है। जबतक मानव और मानव में स्व और पर का भेद रहेगा, क्षेत्र, भाषा, विश्वास, रग आदि के आधार पर मानसिक परिधिया बनी रहेंगी, तवतक न्याय की स्थापना नही हो सकती।

न्याय और प्रतिशोध

वर्तमान युग की यह एक विकट समस्या है कि न्याय एव प्रतिशोध का आधार व्यक्ति को माना जाय या समाज को। प्राचीन समय मे खून का बदला जाति के आधार पर लिया जाता था। एक परिवार या जाति के किसी सदस्य ने दूसरे परिवार या जाति के किसी सदस्य को मार डाला तो शत्रुता शाश्वत वैर का रूप धारण कर लेती थी। प्रत्येक वयस्क दूसरे परिवार या जाति के सदस्य को मारकर बदला लेने की फिराक मे रहता था। वर्तमान युग इस आधार को स्वीकार नही करता। उसका कथन है कि व्यक्तिगत अपराध के लिए व्यक्ति उत्तरदायी है, परिवार या समाज नही। फिर भी कई क्षेत्र ऐसे हैं, जहा अब भी समाज को आधार माना जा रहा है। उदाहरण के रूप मे, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को प्रस्तुत किया जा सकता है। सत्तारूढ शासक शासन के प्रतिनिधि बनकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और सफल न होने पर एक राष्ट्र को प्रत्येक दूसरे राष्ट्र का शत्रु मान लिया जाता है। इसका मुख्य आधार झूठी राष्ट्रीयता है। शासन किस दल के हाथ मे है, उसपर अपने ही देश का कोई व्यक्ति बैठा हुआ है या पराया, खेत मे हल चलानेवाले ग्रामीण के जीवन मे इससे कोई फर्क नही पडता। यह भी नही कहा जा सकता कि अपने देश का शासक उसके हितो की अधिक रक्षा करेगा और दूसरे देशवाला कम। फिर भी भौगोलिक सीमाओ के आधार पर झूठी मानसिक सीमाए खडी की जाती है और एक मानव को दूसरे मानव से द्वेष करना सिखाया जाता है। जो राष्ट्र अबतक हमारा शत्रु था, वही जब जीत-कर अपने राज्य मे मिला लिया गया तो मित्र बन जाता है। पाकिस्तान कल तक भारत का अग था। देश का विभाजन होते ही द्वेष-भावना पैदा हुई और नागरिको की मनोवृत्ति भी तदनुसार बदल गई। आवश्यकता इस बात की है कि मानव इस कृत्रिम भेद रेखाओ को लाघकर न्याय के शाश्वत आधारो को पहचाने।

धर्म बनाम प्राण-रक्षा

दूसरा प्रश्न आत्महत्या का है। इसे न्याय कहा जायगा या अन्याय। धर्म-ग्रथो मे आत्महत्या करनेवालो को महापापी कहा गया है। महाभारत मे कथा आई है कि विश्वामित्र ने चण्डाल के घर से चुराकर कुत्ते का मास खाया और अपने प्राण बचाये। जब चण्डाल उसे इस प्रकार चोरी करके मास खाने के विरुद्ध उपदेश देने लगा, तो विश्वामित्र ने कहा

'जीवित मरणाच्छ्रेयो, जीवन धर्ममवाप्नुयात्।'

अर्थात्—जीना मरने से अच्छा है। जीवन रहेगा तो धर्म अपने आप मिल जायगा। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि प्राणो का बलिदान करके भी आत्म-सम्मान या धर्म की रक्षा करनी चाहिए। दुष्ट जब बलात्कार करना चाहता है तो स्त्री का यही धर्म बताया गया है कि प्राण देकर भी उसे अपने सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए। सैनिक शत्रुओ द्वारा बन्दी बना लिया जाता है, उस पर मनमाने अत्याचार होने लगते हैं। उसे ऐसे कार्य करने के लिए विवश किया जाता है, जो स्वाभिमान के प्रतिकूल है। अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह आत्महत्या कर लेता है। क्या यह पाप है ?

इस प्रश्न का उत्तर किसी सार्वजनिक नियम के रूप मे नही दिया जा सकता। यह निर्णय वैयक्तिक आत्मबल के आधार पर किया जायगा। एक व्यक्ति भूखा मरना पसन्द करता है, किन्तु मागकर नही खाना चाहता। उसके लिए भूखा मरना ही न्याय है। किन्तु जिसमे यह आत्मबल नही है उसे भूखा मरने के लिए विवश नही किया जा सकता। विवशता अपने-आप मे अन्याय है। न्याय की सीमा वही तक है, जब व्यक्ति स्वतन्त्रता-पूर्वक कष्टो का सामना करता है। परतन्त्रता मे उठाये गए कष्ट न्याय नही, अन्याय है।

स्वतन्त्रता और सुरक्षा

समाजवादियो का यह कथन है कि न्याय का लक्ष्य सुरक्षा है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की मौलिक आवश्यकताए प्राप्त होनी चाहिए।

उसके मन मे यह भय नही रहना चाहिए कि मैं भूखा मर सकता हू, निवास और जीवन की अन्य आवश्यकताए मुझसे छीनी जा सकती है। इसके लिए यदि उसकी स्वतत्रता पर नियत्रण किया जाता है तो यह बुरा नही है। इसी विचार को सामने रखकर साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था को अपनाया गया, जहा एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण बन्द हो गया। साथ ही उसकी स्वतत्रता पर भी प्रतिबन्ध लग गया। दूसरी ओर, स्वतत्रतावादियो का कथन है कि व्यक्ति को आगे बढने की खुली छूट मिलनी चाहिए। आर्थिक क्षेत्र पर किसी प्रकार का नियत्रण नही होना चाहिए।

इन स्वतत्रताओ के सत्यासत्य का निर्णय भी व्यक्ति सापेक्ष है। यदि व्यक्ति साहसी है, कष्ट सहने के लिए तैयार है तो उसपर नियत्रण वही हो सकता है जहा वह किसी दूसरे के अधिकार को छीनना चाहता है। ऐसा न होने पर भी उसपर नियत्रण रखना अन्याय है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति दुर्बल मनवाला है, जो जीवन-रक्षा के लिए दूसरे की सहायता पर निर्भर है, उसका मुख्य लक्ष्य सरक्षण है। स्वतत्रता पर प्रतिबन्ध लगने पर भी उसे सरक्षण की आवश्यकता है। उसके मन मे यह भावना नही आनी चाहिए कि मैं अरक्षित हू। लोकतन्त्रीय न्याय मे दोनो का उचित ध्यान रखना होगा।

सत्य और निर्भयता

न्याय का आधार सत्य है और उसका लक्ष्य है निर्भयता, अर्थात प्रत्येक प्राणी को भय-मुक्त करना। किन्तु यहा भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। जहा सत्य और निर्भयता मे परस्पर विरोध हो वहा किसे प्राथमिकता दी जाय ? उदाहरण के रूप मे, डाक्टर रोगी की परीक्षा करता है और इस निर्णय पर पहुचता है कि उसके प्राण नही बच सकते। वह थोडे ही दिनो का महमान है, साथ ही उसे यह भय भी है कि यदि रोगी को वास्तविकता बता दी गई तो उसके प्राण तत्काल निकल जायगे। परिणामस्वरूप, डाक्टर रोगी को अच्छा होने का आश्वासन देने लगता है। यदि न्याय की दृष्टि से सत्य का अधिक महत्त्व है तो रोगी के प्राणो

की चिन्ता न करके डाक्टर का कर्तव्य है, सच्ची बात कहे। दूसरी ओर, यदि सत्य की अपेक्षा दूसरे को भय-मुक्त करना अधिक महत्त्व रखता है तो झूठ बोलना ही डाक्टर का कर्तव्य है। यहा कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। ऐसी स्थिति मे जैनधर्म का कथन है कि धर्म अथवा नैतिकता का मुख्य आधार अहिंसा है। सत्य उसका पोषकमात्र है। जहा सत्य अहिंसा का पोषण नही करता, वहा वह धर्म का अग नही रहता। अत धर्म का निर्णय अहिंसा के आधार पर करना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण मे रोगी को भय-मुक्त करना अहिंसा है। इसके विपरीत जानेवाला सत्य धर्म का अग नही है, किन्तु यदि रोगी में पर्याप्त आत्मबल है और मृत्यु का समाचार सुनकर उसे आघात लगने का भय नही है तो डाक्टर को सच्ची बात ही कहनी चाहिए।

सार्वजनिक सुख और नैतिकता

प्लेटो ने लिखा है कि न्याय पर चलनेवाला व्यक्ति ही सुख प्राप्त करता है। जो न्याय पर नही चलता उसे सुख नही मिलता। यहा न्याय का अर्थ है विधि-विधान या शासक की आज्ञाए। आगे चलकर एक प्रश्न उठाया गया है। प्राय. देखा जाता है कि अन्यायी व्यक्ति के पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है और वह सुखी होता है। इसके विपरीत न्यायी कष्ट भोगता है। उत्तर मे प्लेटो का कथन है कि हमे वस्तु-स्थिति की चिन्ता न करते हुए सर्वसाधारण मे यही प्रचार करना चाहिए कि न्याय से सुख प्राप्त होता है। यह प्रचार अपने-आपमे चाहे सत्य न हो, किन्तु इसका उद्देश्य शुभ है। अत ऐसा करना बुरा नही है। यहा सत्य की उपेक्षा करके सार्वजनिक हित को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्लेटो का कथन है कि प्रचार अपने-आप भले ही झूठ हो, किन्तु वह लाभदायक है। इसी झूठ के द्वारा शासक अपनी प्रजा को न्याय-पालन की ओर आकृष्ट करता है।

सर्वसाधारण को न्याय की ओर आकृष्ट करने और बिना किसी बाह्य नियत्रण के स्वेच्छापूर्वक न्याय पर चलाने के लिए इससे अच्छा उपाय नही हो सकता। प्लेटो का कथन है कि यदि शासन मेरे हाथ में

आ जाय तो मैं समस्त कवियो और लेखको को इस झूठ का प्रचार करने के लिए कहूगा। जो बात झूठी होने पर भी उपयोगी है, शासन को उसे अपनाने का पूर्ण अधिकार है और यह अन्याय नही है। प्लेटो के मत मे न्याय का अर्थ है शासन की आज्ञाए और उन आज्ञाओ का पालन करने के लिए झूठ का आश्रय लेना बुरा नही है। किन्तु यह धारणा निर्विवाद नही है। शासन या राज्य अपने-आप मे साध्य नही होता, वह साधन होता है। उसका साध्य है सर्व-साधारण का नैतिक एव भौतिक उत्थान। शासन की रक्षा के लिए नैतिकता को गिराना उचित नही कहा जा सकता। नैतिकता का मूल्य स्थायी और निर्पेक्ष है। इसके विपरीत राज्य का अस्थायी और सापेक्ष। अस्थायी मूल्य के लिए स्थायी मूल्य की उपेक्षा उपादेय नही कही जा सकती।

न्याय और लोकमत

लोकतत्र मे प्रत्येक बात का अन्तिम निर्णय लोकमत द्वारा किया जाता है, किन्तु इस प्रणाली को सर्वत्र उपयोगी नही कहा जा सकता। लोकमत का अर्थ है साधारण जनता का मत, अर्थात प्रत्येक विषय पर विशेषज्ञो के मत का जो मूल्य है वही अनपढ के मत का है, किन्तु यह ठीक नही है। एक रोगी के विषय मे डाक्टर के मूल्य का जो मत है वह सैकडो अन्य व्यक्तियो के मत का नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि वर्तमान युग मे प्रचार एक ऐसा शक्तिशाली साधन बन गया है, जो लोकमत को अपने हाथ मे कर लेता है। जिस प्रकार प्राचीन युग मे अत्याचारी शासक भय दिखा कर जनता को अपने साथ कर लेता था, उसी प्रकार वर्तमान युग मे शासन मिथ्या प्रचार द्वारा जन-मानस को कुण्ठित कर देता है। उसमे स्वतत्र होकर सोचने की शक्ति नही रह जाती। लोकमत केवल इच्छा को अभिव्यक्त करता है, अर्थात उसमे हम यह जान सकते है कि कितने व्यक्ति क्या चाहते है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि उनका चाहना सत्य तथा सार्वजनिक हित की दृष्टि से महत्त्व रखता है।

इसके उत्तर मे यह कहा जाता है कि सर्व-साधारण को केवल

प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है। न्याय का निर्माण तथा सचालन उन प्रतिनिधियो के हाथ मे रहता है, प्रत्यक्ष जनता के हाथ मे नही, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि जनता जिस प्रतिनिधि को चुनती है, वही योग्य-तम होता है। जिस व्यक्ति के हाथ मे प्रचार के साधन है, वह चुनाव मे जीत जाता है और योग्य व्यक्ति हार जाता है। अत लोकमत को सर्वत्र निर्णायक नही माना जा सकता। वह केवल सर्व-साधारण की इच्छा का अभिव्यजक होता है, सत्य का नही।

न्याय और कानून

यूनान के सात सियानो ने कहा था—"जिस वस्तु पर दूसरे का अधिकार है वह उसे दे दो।" समाज-व्यवस्था तथा राजनीति ने न्याय के इसी रूप को स्वीकार किया है। कानून भी इसी का समर्थन करता है। किन्तु यहा यह प्रश्न होता है कि अधिकार का निर्णय कैसे किया जायगा ? एक व्यक्ति सैनिक आक्रमण तथा षडयन्त्रो द्वारा दूसरे व्यक्ति की भूमि या सम्पत्ति को छीन लेता है। उसके वशज उस सम्पत्ति पर अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझते है। साम्राज्यवाद, एकतन्त्र तथा जमीदारी का सारा इतिहास इसका साक्षी है। लोकतन्त्र ने व्यक्ति पर व्यक्ति के इस शासन को अन्याय समझा। पिता द्वारा कमायी गई पूजी पर पुत्र अपना न्याय-पूर्ण अधिकार मानता है, किन्तु समाजवादी अर्थ-व्यवस्था इसे स्वीकार नही करती।

सामन्तवादी युग मे राजा या सेनापति जिन स्त्रियो को लूटकर लाता था, उन पर उसका न्यायपूर्ण अधिकार-समझा जाता था, किन्तु वर्तमान युग यह मानने के लिए तैयार नही है। इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक धारणाओ मे परिवर्तन होने पर न्याय का बाह्य रूप भी बदल जाता है।

न्याय का दूसरा बाह्य आधार प्रतिशोध के रूप मे उपस्थित किया जाता है, अर्थात भलाई का बदला भलाई के रूप मे देना चाहिए और बुराई का बुराई के रूप मे। एक धर्म-ग्रथ मे कहा गया है कि जो तुम्हारी आख फोडता है, उसकी आख फोड दो और जो

दांत तोड़ता है उसका दात तोड दो। फौजदारी कानून का भी यही आधार है। किन्तु यहा यह प्रश्न होता है कि बदले का निर्णय किसके हाथ मे होना चाहिए। एक व्यक्ति दूसरे को गाली देता है, दूसरा उसके बदले मे थप्पड लगा देता है और इसे न्याय समझता है। तीसरा अपमान के बदले मे शत्रु के प्राण ले लेता है। जमीदार बाग से फल चुराकर खानेवाले बालक को निर्दय होकर पीटना अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझता है। धर्म-सस्थाओ ने इस न्याय को ईश्वर या किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे सौंप दिया है और व्यक्ति को अपने-आप बदला लेने की अनुमति नही दी। राजनीति मे इसके लिए न्यायालयो की स्थापना की गई है, किन्तु न्यायालय जिस दण्ड-सहिता पर चलते है वह सदा एक-सी नही रहती। यहूदी न्याय में कर्ज वसूल करने के लिए मृत्यु-दण्ड तक का विधान है। किन्तु वर्तमान राजनीति कर्ज न चुकाने को बहुत बडा अपराध नही मानती। भलाई और बुराई का निर्णय भी अत्यन्त कठिन। है बालक अपने रोगी पिता की चिकित्सा के लिए किसी जमीदार के बाग से फल चुरा लेता है। कानून उसे अपराधी घोषित करता है और कारावास का दण्ड देता है। परिणामस्वरूप, रोगी पिता की मृत्यु हो जाती है। किन्तु जमीदार या शासक को अपराधी नही माना जाता। एक धनवान किसी सकटग्रस्त श्रमिक को थोडे-से रुपये ऋण के रूप मे देता है। परिस्थिति-वश मजदूर उसे नही उतार पाता। ब्याज बढता चला जाता है। जब कर्ज नही उतरता तो धनवान न्यायालय की सहायता लेकर उसके घरबार को नीलाम करा देता है। उसका परिवार एव बच्चे गृहहीन होकर भीख मागने के लिए विवश हो जाते हैं। किन्तु राज्य भीख भी नही मागने देता और वे भूखे मरने के लिए विवश हो जाते हैं। कहा नही जा सकता कि इसमे न्याय की मात्रा कहा तक है? यदि शाश्वत मूल्यो को सामने रखा जाय तो जमीदार और धनवान, दोनो का व्यवहार स्पष्टत अन्याय है।

साधारणतया कहा जाता है कि कानून के सामने सभी समान है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि कानून अपने-आप मे सबको एक-सा समझता है। विभिन्न देशो के कानून विभिन्न वर्गों के स्वार्थों की रक्षा

के लिए विषमता को प्रश्रय देते आ रहे हैं। धनवान को संरक्षण देने-वाला कानून श्रमिक के स्वाभाविक अधिकारो को महत्त्व नही देता। वर्ग, जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर भी संहिता मे भेद किया गया है। "कानून के सामने सभी समान है।" इसका इतना ही अर्थ है कि जब दो व्यक्ति किसी विवाद को लेकर आते हैं तो कानून अपने शब्दो को देखता है, व्यक्तियो को नही। किन्तु जहा शब्द स्वय विषमता को लिये हुए है, कानून उसे दूर नही कर सकता।

एक व्यक्ति का भूमि पर कुल-क्रमागत अधिकार है। वह न उसे जोतता है और न अन्य किसी प्रकार का श्रम करता है। किन्तु फल मे सबसे अधिक भाग उसका रहता है। क्या यह भाग न्यायपूर्ण है? उसके किसी पूर्वज ने बल-प्रयोग द्वारा भूमि पर अधिकार जमा लिया। क्या इतने मात्र से आनेवाली समस्त पीढियो को खाली बैठकर फल भोगने का अधिकार हो गया?

अनेक स्थानो पर अबतक यह प्रथा रही है कि पिता किसी धनवान से कर्ज लेकर अपने पुत्र या पुत्री को गिरवी रख देता है और जबतक कर्ज नही उतरता, सन्तान उस धनवान की गुलामी करती रहती है। इस प्रकार, पूर्वज के कर्म का फल आनेवाली पीढिया भुगतती रहती हैं। वह कर्म अच्छा है तो आनेवाली पीढिया सुख भोगती हैं, और यदि बुरा है तो दुख। कर्म और फल की इस व्यवस्था को लौकिक तथा आध्यात्मिक किसी भी दृष्टि से न्याय नही कहा जा सकता। न्याय का आधार व्यक्ति का अपना श्रम है।

व्यक्ति ही नही, जातियो तथा राष्ट्रो पर भी कानून द्वारा इस अन्याय को लादा जा रहा है। एक जाति का दूसरी जाति के साथ आर्थिक या अन्य स्वार्थों को लेकर युद्ध होता है, और हारनेवाली जाति को सदा के लिए गुलाम बना लिया जाता है। जिन व्यक्तियो का परस्पर युद्ध हुआ, जिन्होने शौर्य या अन्य गुण के आधार पर विजय प्राप्त की और जो हार गए, वे कभी के समाप्त हो चुके। सैकडो वर्ष बीतने पर भी विजयी जाति के सदस्य पराजित जाति के सदस्यो को गुलाम बनाये रखना अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझते है। इसी प्रकार

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाये हुए है।

एक व्यक्ति परिश्रम करके खेती करता है या बाग लगाता है। दूसरा लगे-लगाये बाग मे आकर उसके असली मालिक को खदेड देता है और स्वय मालिक बन जाता है। तीसरा खदेडनेवाले सफल अपराधी का वशज होने के कारण उस भूमि पर अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझता है। प्राचीन समय मे इस प्रकार के जो बल प्रयोग हुए, वर्तमान पीढी उन्हे अपने अधिकार का न्यायपूर्ण आधार मान रही है और कानून उसका समर्थन कर रहा है। लोकतन्त्र की दृष्टि मे यह अन्याय है। वहा प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही श्रम का फल भोगने का अधिकार है। पूर्वजो का फल सन्तान की सम्पत्ति या दण्ड का आधार नही बन सकता। साथ ही श्रम अहिंसात्मक होना चाहिए। हिंसा अपने-आप मे अन्याय है। उसके द्वारा प्राप्त किया गया अधिकार न्याय नही बन सकता।

न्याय और वैयक्तिक सम्पत्ति

सम्पत्ति एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा हम अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। सम्पत्तिहीन व्यक्ति को अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए दूसरे की गुलामी करनी पडती है। पूजीवादी राष्ट्रो का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति उपार्जित करने और अपने पास रखने का पूरा अधिकार है। इस पर नियन्त्रण का अर्थ है उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना। दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्रो का कथन है कि सम्पत्ति के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है। वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार लोभ को जन्म देता है और उससे अनेक बुराइया फैलती है। इस अधिकार का अर्थ है उसे वह सामर्थ्य प्रदान करना, जिससे वह दूसरो पर अत्याचार कर सके। जिस प्रकार सर्वसाधारण को घातक शस्त्रास्त्र रखने का अधिकार देना उचित नही है, उसी प्रकार यह अधिकार देना भी ठीक नही है। जहा तक निर्वाह का प्रश्न है, राज्य उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता है। ऐसी स्थिति मे निर्वाह के लिए दूसरे की गुलामी आवश्यक न रहेगी।

इन विचारधाराओ का परस्पर विरोध इतना उग्र हो गया है

कि विचार की सीमा को पार करके व्यवहार मे उतर आया है। प्रत्येक विचारधारा का समर्थक दूसरे को अपना शत्रु मानने लगा है और विश्व-शान्ति खतरे मे पड गई है।

जहातक न्याय का प्रश्न है, प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार मिलना ही चाहिए। शरीर भोजन तथा निवास के समान यह भी जीवन का आवश्यक तत्त्व है। साथ ही जहा एक का सग्रह दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधा डालता है, अर्थात उसकी मौलिक आवश्यकताओ पर आघात करने लगता है, वहा नियन्त्रण भी आवश्यक है। अपराधी का शरीर भी दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधा डालने लगता है। इतने मात्र से वैयक्तिक हलचल पर व्यापक प्रतिबन्ध लगाना उचित नही कहा जा सकता।

न्याय और उसके ऐतिहासिक आधार

मानव और मानव के परस्पर व्यवहार को दो भागो मे बाटा जा सकता है—(१) न्याय और (२) बल-प्रयोग। न्याय की सीमा कहातक है और बल-प्रयोग कहा से प्रारम्भ होता है, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। विश्व के इतिहास मे यह सीमा बदलती चली आई है। तदनुसार न्याय के रूप भी बदलते गए।

मनुस्मृति मे आया है—"जीवो जीवस्य जीवनम्" अर्थात—एक प्राणी दूसरे प्राणी का भोजन है। यह प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। किन्तु मनुष्य जब स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरे पर अधिकार करना चाहता है तो सीधा आक्रमण नही करता। वह अपने अत्याचार को न्याय का रूप देना चाहता है। इसके लिए किसी पुस्तक, परम्परा या वर्ग-विशेष का समर्थन प्राप्त करना चाहता है। इसी इच्छा के फलस्वरूप तथाकथित न्याय के अनेक रूप अस्तित्व मे आये, उसके लिए अनेक आधारो की कल्पना की गई। अगले पृष्ठो मे उन्ही की चर्चा की जायगी।

न्याय और विश्व-व्यवस्था

न्याय का सर्वप्रथम आधार विश्व-व्यवस्था के रूप मे मिलता है।

ऋग्वेद मे इसे ऋत् शब्द से प्रकट किया गया है। इसका अर्थ है, वह व्यवस्था, जिसके द्वारा विश्व का सचालन होता है। इस व्यवस्था का उल्लघन करना अन्याय है। सूर्य, चन्द्र, गृह, नक्षत्र, ऋतुए तथा अन्य प्राकृतिक तत्त्व उसी व्यवस्था के अनुसार चल रहे हैं। जिस दिन यह व्यवस्था टूट जायगी, विश्व का नाश हो जायगा। यह व्यवस्था ही विश्व को धारण किये हुए है। इसका दूसरा नाम धर्म है।

जब इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया गया तो उसका यह अर्थ हो गया कि प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग को अपनी-अपनी मर्यादा मे रहकर कर्तव्य का पालन करना चाहिए, समाज के सचालन के लिए यह अनिवार्य है। इसके लिए समानता की उपेक्षा करना अन्याय नही है। समाज को विद्वान, सैनिक, कृषक तथा सेवक सभी की आवश्यकता है। यदि कोई वर्ग अपना कर्तव्य छोडकर दूसरे वर्ग मे प्रवेश करता है तो समाज की व्यवस्था टूट जायगी। यह अन्याय है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो तथा अरिस्टॉटल भी इसी सिद्धान्त के समर्थक रहे है। उनके मत मे भी न्याय का आधार सामाजिक व्यवस्था है और इसके लिए विषमता बुरी नही है। प्लेटो का कथन है—जूते सीनेवाला चमार चमार ही रहेगा, नाविक नही बन सकता, किसान किसान ही रहेगा, न्यायाधीश नही हो सकता, सैनिक सैनिक ही रहेगा, व्यापारी नही बन सकता। अरस्तू ने इसी तथ्य को दूसरे रूप मे उपस्थित किया है। उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपनी-अपनी मर्यादा मे स्थिर रहना ही न्याय है। यह मर्यादाए समता-मूलक नही हो सकती। समाज-व्यवस्था के लिए विषमता आवश्यक है। यह विषमता वर्ग-मूलक है, अर्थात एक वर्ग दूसरे वर्ग के समान नही हो सकता। किन्तु वर्ग के अन्तर्गत व्यक्तियो मे परस्पर व्यवहार समता-मूलक ही होना चाहिए। इस प्रकार न्याय का आधार वर्ग-वैषम्य और व्यक्ति-साम्य है।

सन्तपाल ने अपने उपदेशो मे कहा है—पत्नी को पति की आज्ञा माननी चाहिए और सेवक को स्वामी की। यह समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक है और यही न्याय है। मनु ने भी वर्णाश्रम-व्यवस्था को ही न्याय का आधार माना है, अर्थात वर्ग तथा व्यक्ति के विभिन्न

अवस्थाओं मे कर्तव्य निश्चित है और उनका पालन ही न्याय है।

न्याय और उच्चवर्ग का स्वार्थ

समाज-व्यवस्था के लिए कार्य-विभाजन आवश्यक था। विविध व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार उन्हे भिन्न-भिन्न कार्य सौंपे गए। इस योग्यता के दो आधार थे—(१) जन्म और (२) वैयक्तिक विशेषताए। धीरे-धीरे वैयक्तिक विशेषताओ की उपेक्षा होती गई और जन्म को महत्त्व मिलता गया। परिणामस्वरूप अनेक, वर्ग खडे हो गए, और एक वर्ग का स्वार्थ दूसरे वर्ग के साथ टकराने लगा। भारत में आर्यो ने अपना विभाजन तीन वर्णों मे किया था—(१) विद्या-जीवी—ब्राह्मणवर्ग (२) आयुध-जीवी—क्षत्रियवर्ग और (३) कृषि-जीवी वैश्य वर्ग। राजनैतिक सघर्ष के फलस्वरूप शूद्र वर्ण की स्थापना हुई और उसे अन्य वर्णो की सेवा का कार्य सौपा गया। उसका कोई सामाजिक अधिकार नही था।

समाज-व्यवस्था का सचालन प्रथम दो वर्णो के हाथ में था। ब्राह्मण-वर्ग के हाथ मे व्यवस्था एव नीति का निर्धारण था और क्षत्रिय के हाथ मे उसका पालन कराना। परिणामस्वरूप तीसरे वर्ग के भी हितो की उपेक्षा होने लगी, शूद्र वर्ग तो पहले से ही अधिकार-वञ्चित था। इस प्रकार न्याय का उद्देश्य प्रथम दो वर्गो के स्वार्थो की रक्षा बन गया।

यूनान मे भी प्लेटो ने समाज का विभाजन तीन वर्गो मे किया है। उनमे से प्रथम दो—अर्थात, विद्या-जीवी और सैनिक श्रेष्ठ माने गए हैं। तृतीय वर्ग साधारण जनता है, जिसका कर्तव्य है प्रथम दो वर्गों की स्वार्थ-पूर्ति।

इसी आधार पर अरस्तू ने समाज को दो भागो मे विभक्त किया है। एक सेव्य है और दूसरा सेवक, एक भोक्ता है और दूसरा भोग्य, एक साध्य है दूसरा साधन। उसकी दृष्टि में न्याय का लक्ष्य है सेव्य वर्ग के हितो की रक्षा। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय-वर्ग की सुख-समृद्धि के लिए दूसरे वर्ग के हितो की उपेक्षा करना उसकी दृष्टि मे अन्याय नही है। इसी प्रकार पुरुष की इच्छा-पूर्ति के लिए स्त्री के अधिकारो की उपेक्षा

की जा सकती है। गुलामो का तो अपना कोई स्वार्थ ही नही समझा गया। भारत मे शूद्रो का जो स्थान रहा है वही वहा गुलामो का रहा है। अन्तर इतना ही है कि वहा उन्हे अस्पृश्य नही माना गया। उनके जीवन का उद्देश्य था मालिक के लिए जीना। यदि मालिक गुलाम से काम लेने के लिए उसे पीटता है तो यह अन्याय नही है। दूसरी ओर यदि गुलाम मालिक को छोडकर चला जाता है और स्वतन्त्र होकर जीवन व्यतीत करना चाहता है तो यह अन्याय है। न्याय का यह रूप सामन्तवादी मनोवृत्ति को प्रकट करता है, जहा शक्तिशाली या सम्पन्न वर्ग के सामने दूसरे वर्ग का कोई अस्तित्व नही होता। भारत मे भी मध्ययुग मे यह मनोवृत्ति रही है, जहा सामन्तो एव राजाओ के अन्त - पुर मे सैकड़ो स्त्रिया और गुलाम रहते थे। पुरोहितवर्ग इसे राजा के पराक्रम का स्वाभाविक फल मानता था और इसमे किसी प्रकार का अन्याय नही समझा जाता था।

न्याय और परम्परा

प्रारम्भ मे जिन सिद्धान्तो को व्यवस्था के रूप मे अपनाया गया, वे ही समय बीतने पर परम्परा बन गए। उन सिद्धान्तो की संहिता के रूप मे जिस पुस्तक की रचना हुई, उसे अनादि या ईश्वर का वाक्य समझा गया। परिणामस्वरूप, उसके विषय मे मनुष्य को बोलने का अधिकार नही रहा। उसके विरुद्ध आवाज उठाना भी अपराध समझा जाने लगा। यह शास्त्र तथाकथित उच्च-वर्ग का शास्त्र बन गया और उसकी दुहाई देकर वह स्वतन्त्र विचारो को कुचलने लगा।

परम्परा के दो रूप मिलते है—१ रिवाज अर्थात—चिरकाल से चली आनेवाली प्रथा और २ पुस्तक विशेष। अविकसित जातियो मे पहला रूप मिलता है और विकसित जातियो मे दूसरा रूप। पुस्तक के लिए दो प्रकार की मान्यताए है। पहली मान्यता है कि इसकी रचना ईश्वर ने की है। दूसरी मान्यता है कि वह अनादि है। दोनो स्थितियो मे मानव को उसके विरुद्ध बोलने का अधिकार नही है। इतना ही नही, उस पुस्तक की व्याख्या भी वर्ग-विशेष ने अपने हाथ मे ले ली और

उसका नाम लेकर सर्व-साधारण के अधिकारो को कुचला।

बृहदारण्यक उपनिषद मे न्याय का आधार श्रुति या वेद को बताया गया है। उसका कथन है कि चारो वर्णों के कर्तव्य और अधिकार स्थिर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार कर्तव्य का पालन करना चाहिए। जो ऐसा नही करता वह न्याय का उल्लघन करता है। उसे दण्ड देना क्षत्रिय का धर्म है। यहूदी, मुसलमान तथा ईसाई धर्मो मे भी पुस्तक विशेष की आज्ञाओ को ही न्याय का आधार माना गया है।

भारत मे न्याय का विवेचन स्मृतियो मे किया गया है। किन्तु जो स्मृति-श्रुति अर्थात अनादि परम्परा के अनुरूप है, उसीको प्रमाण माना गया है और जो उसके विरुद्ध है, उसे अप्रमाण।

पश्चिम मे न्याय सहिता की रचना सर्वप्रथम रोम मे हुई। उसका भी आधार परम्परा ही था।

परम्परामूलक न्याय के दो परिणाम निकलते हैं—१ वह सामाजिक सगठन को दृढता प्रदान करता है। परम्परा को जितना अधिक महत्त्व दिया जायगा, अन्तरात्मा की उपेक्षा करके उसके बाह्य रूप का जितना अन्धानुकरण किया जायगा, उतना ही सगठन दृढ होगा। वहा व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा एव बुद्धि समाप्त हो जाती है और परम्परागत विधान के प्रत्येक अक्षर को दैवी रूप दे दिया जाता है। उसके विरुद्ध सोचना धार्मिक दृष्टि से पाप और राजनैतिक दृष्टि से अपराध समझा जाता है।

२ इसका दूसरा परिणाम है प्रगति का रुक जाना। परम्परा को जितना अधिक महत्त्व दिया जायगा उतना ही विकास रुका रहेगा। धर्म-सस्था का इतिहास दोनो परिणामो को प्रकट कर रहा है। प्रथम सुपरिणाम है और दूसरा दुष्परिणाम। विश्व की विकसित जातियो ने दुष्परिणाम से बचने और सुपरिणाम से लाभ उठाने का एक मार्ग निकाला। उन्होने परम्परा को प्रश्रय तो दिया, किन्तु उसके क्षेत्र को सीमित कर दिया, जिससे एक ओर सगठन को कायम रखा जा सके और दूसरी ओर स्वतन्त्र विकास भी होता रहे। परम्परा का क्षेत्र धर्म या अतीन्द्रिय शक्तियो तक सीमित रहा। वहा विकास की आवश्यकता

नही समझी गई। दूसरी ओर विज्ञान और राजनीति ने परम्परा को छोड दिया। परिणामस्वरूप, इन क्षेत्रो मे कल्पनातीत विकास दृष्टि-गोचर हो रहा है। भारत मे इस प्रकार का क्षेत्र-विभाजन नही हुआ। यहा धर्म का जीवन पर व्यापक प्रभाव बना रहा। परिणामस्वरूप, धर्म मे भी क्रान्तिया होती रही। दूसरी ओर जीवन के किसी क्षेत्र मे स्वतन्त्र विकास नही होने पाया। धार्मिक मर्यादाओ का अवरोध निरन्तर चलता रहा और वह अबतक चल रहा है।

परम्परा के विविध रूप

मनु ने न्याय या धर्म के पाच आधार बताये है ·

१. वेद
२ परम्परा
३ वेदज्ञो का आचार
४ *विभिन्न जातियो मे प्रचलित रीति-रिवाज*
५ आत्म-सन्तोष

इनमे से प्रथम चार परम्परा के ही विविध रूप है। स्थूल रूप से इन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) पुस्तकमूलक परम्परा और (२) व्यक्तिमूलक परम्परा। पुस्तकमूलक परम्परा के दो भेद है—(क) श्रुति और (ख) स्मृति। व्यक्तिमूलक परम्परा के भी दो भेद है—(१) ज्ञान एव चरित्र-सम्पन्न व्यक्तियो का आचार तथा (२) साधारण जनता मे प्रचलित लोकाचार।

याज्ञवल्क्य ने इन्ही को चार रूपो मे विभक्त किया है

१ श्रुति
२ स्मृति
३ सदाचार और
४ जो अपने लिए हितकर हो।

कुमारिल भट्ट का कथन है कि स्मृति अपने-आप मे प्रमाण नही है। प्रत्येक व्यक्ति की स्मृति अपने किसी पूर्वज की स्मृति पर निर्भर है। अत स्मृति का आधार परम्परा है, जो वेद का ही दूसरा नाम है।

मेधातिथि एव अन्य व्याख्याकारों का कथन है कि यदि स्थानीय परम्परा और स्मृति के शब्दो मे परस्पर विरोध हो तो परम्परा को अधिक महत्त्व देना चाहिए ।

मनु और याज्ञवल्क्य ने दो प्रकार की परम्पराओ के साथ आत्म-हित को भी जोड दिया । डायस्थनीज ने परस्पर समझौते को भी न्याय का आधार बताया है । मनु ने इसे व्यवहार के रूप मे केवल आर्थिक क्षेत्र मे स्वीकार किया है । अन्य क्षेत्रो मे समझौते को महत्त्व नही दिया ।

पुरातन न्याय मे एक बात और है । वहा धर्म, सदाचार, लोकाचार या राजनीति आदि मे परस्पर न्याय की दृष्टि मे कोई भेद नही है । प्रत्येक व्यवस्था सभी क्षेत्रो पर छाई हुई है । वह अनादि परम्परा या ईश्वर का वाक्य है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका पालन अनिवार्य है । मनुस्मृति, हमुराई और मूसा की न्याय सहिता इसका उदाहरण हैं । डायस्थनीज ने एथन्ज की जो न्याय-सहिता बनाई है, उसमे न्याय-पालन के लिए नीचे लिखे चार आधार बताये गए हैं

१ न्याय का विधान ईश्वर ने किया है ।

२ वे उन ज्ञान-सम्पन्न महापुरुषों की शिक्षा है, जो परम्परा को भली-भाति जानते थे ।

३ वे नैतिकता के उन सिद्धान्तो पर आधारित हैं, जो शाश्वत और अपरिहार्य हैं ।

४ वे मनुष्यो के परस्पर समझौते पर निर्भर है, जिनका पालन करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति बाध्य है ।

सिसरो ने भी यही कहा है कि कानून का आधार एक ओर ईश्वर है और दूसरी ओर वे परम्पराए, जिनमे व्यक्ति विश्वास रखता है ।

न्याय के प्राचीन रूप को नीचे लिखे पाच तत्त्वो मे प्रकट किया जा सकता है

१ न्याय का आधार था ईश्वर, परम्परा या पुस्तक विशेष की आज्ञाए । मनुष्य को इस विषय मे स्वतन्त्र होकर सोचने का अधिकार नही था ।

२. न्याय और धर्म मिले हुए थे और उनका इस जन्म पर ही

नही परलोक पर भी नियन्त्रण था ।

३ न्याय की व्याख्या वर्ग-विशेष के हाथ मे थी । दूसरो को इस विपय मे बोलने का अधिकार नही था ।

४ उन आज्ञाओ एव व्याख्याकारो के प्रति अविश्वास वहुत वडा अपराध था ।

५ समता, सत्य, व्यवहार-शुद्धि आदि नैतिक आचारो का न्याय मे विशेष स्थान नही था ।

न्याय और धर्म-गुरु

परम्परा या ईश्वर के आदेश को न्याय मानने का परिणाम यह निकला कि न्याय-व्यवस्था धर्म-गुरुओ के हाथ मे आगई । इसके दो रूप थे—(१) साक्षात सन्देश के रूप मे और (२) व्याख्याकार के रूप मे। इस्लाम तथा ईसाई परम्परा मे धर्म-गुरुओ ने यह घोपणा की कि उन्हे ईश्वर का साक्षात सन्देश प्राप्त होता है । वे जो कुछ कहते है, वह ईश्वर की इच्छा है और यही न्याय है । भारत मे भी ऋपियो के लिए यह माना जाता है कि उन्हे अनादिसत्यो का साक्षात्कार हुआ था । उनके वे अनुभव ही वेद हैं । किन्तु वेदो का सहिताओ के रूप मे सकलन हो जाने के पश्चात ऋषियो की परम्परा समाप्त हो गई । उस समय न्याय या धर्म का रूप वेदो की व्याख्या के रूप मे रह गया । यह व्याख्या भी पुरोहित या धर्म-गुरुओ के ही हाथ मे थी ।

मध्यकालीन यूरोप मे धर्म-सस्था अत्यन्त शक्तिशाली थी । जनता पर उसका व्यापक प्रभाव था । उसने धर्माचार्यों को अनेक लौकिक मर्यादाओ से मुक्त कर दिया । सामाजिक जीवन मे भी उसका पर्याप्त हस्तक्षेप रहा है । उस समय राजा का कर्तव्य था ईश्वरीय आज्ञाओ का पालन कराना और उन आज्ञाओ की व्याख्या धर्म-गुरुओ के हाथ मे थी । उन दिनो सामाजिक वहिष्कार एक कठोर दण्ड था । उससे कई वातें प्रकट होती है

१—वहिष्कृत व्यक्ति तवतक कारावास मे रखा जाता था, जवतक वह पोप से क्षमा-याचना नही करता था । अर्थात—धर्म-गुरु के सामने

नत-मस्तक न होना बहुत बडा अपराध था और नत-मस्तक होकर क्षमा-याचना कर लेने पर अपराधी को निर्दोष मान लिया जाता था। इसका अर्थ है, दुराचार एव अनैतिकता के समान धर्म-गुरु को प्रणाम न करना भी भयकर अपराध था।

२—वहिष्कृत व्यक्ति किसी पर अभियोग नही लगा सकता था। किन्तु उस पर अभियोग लगाया जा सकता था। इसका अर्थ है, वह न्याय प्राप्त करने के अधिकार से भी वचित था।

३—वह न्यायाधीश नही बन सकता था।

४—वह किसी न्यायालय मे गवाही नही दे सकता था।

५—उसके सब कानूनी अधिकार छीन लिये जाते थे।

उस न्याय का मुख्य आधार धार्मिक विश्वास था। धीरे-धीरे विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया और न्याय सार्वजनिक एव सार्वत्रिक बनता चला गया।

इस्लाम मे भी न्याय का आधार ईश्वर का सन्देश रहा है, जो खलीफाओ द्वारा प्राप्त होता था।

उन दिनो न्याय और धर्म भिन्न-भिन्न नही थे। जो राज्य-सस्था की दृष्टि मे अपराधी था, वही धर्म-सस्था की दृष्टि मे पापी। राज्य उसके लिए ऐहिक दण्ड का विधान करता था और धर्म पारलौकिकदण्ड का।

उत्तरवर्तीकाल मे भी धर्म-गुरुओ का व्यापक वर्चस्व रहा है। फ्रास मे सत्रहवी शताब्दी तक धर्म-गुरु को प्रणाम न करना बहुत बडा अपराध समझा जाता था। इसी के विरुद्ध राज्य-क्रान्ति हुई। लोकतन्त्र की स्थापना होने पर यह प्रभाव घटता चला गया।

न्याय और राजा की स्वतन्त्र इच्छा

होमर ने भी ईश्वर की आज्ञा के रूप मे न्याय का वर्णन किया है, किन्तु यहा वह आज्ञा पुस्तक के स्थान पर व्यक्ति विशेष के द्वारा प्राप्त होती है। उसका कथन है कि जब दो व्यक्ति किसी विवाद को लेकर राजा के पास पहुचते है तो ईश्वर अन्तरात्मा की आवाज के रूप मे उसे सन्देश देता है। वह सन्देश ही न्याय है। इस मान्यता के अनुसार भी

राजा न्याय का निर्माता नही होता। यह कार्य ईश्वर का है। राजा केवल न्यायाधीश होता है, अर्थात उसकी आज्ञा के अनुसार फैसला देता है। किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो यहा राजा की स्वतन्त्र इच्छा ही न्याय बन जाती है। ईश्वरीय आदेश उसकी ढाल बन जाता है। इस कल्पना के आधार पर सर्वसाधारण को शान्त रखा जाता था। उसके सामने न कोई न्याय-सहिता थी, न परम्परा। राजा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सब-कुछ करता था और ईश्वर का नाम लेकर उसे न्याय का रूप दे देता था।

राजा की स्वतन्त्र इच्छा का परिष्कृतरूप आमात्य-परिषद के रूप मे मिलता है, जहा राजा न्याय की घोषणा करने से पहले अपने मन्त्रि-मण्डल से परामर्श करता है। यहा भी सर्वोच्च सत्ता राजा की ही होती है, किन्तु वह केवल अपने निर्णय पर निर्भर न रहकर दूसरो को भी विश्वास मे ले लेता है। यह लोकतन्त्र की ओर पहला कदम है। आमात्य-परिषद मे दो प्रकार के व्यक्ति होते थे—(१) पुरोहित और (२) सैनिक अधिकारी। भारत मे पुरोहितो की प्रमुखता रही है और पश्चिम में सैनिक अधिकारियो की।

न्याय और नैतिकता

जैन, बौद्ध आदि श्रमण परम्पराओ ने वेद को प्रमाण नही माना। परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार नही किया। उनकी दृष्टि मे न्याय का आधार है नैतिकता। वहा सत्य, अहिंसा आदि नैतिक नियमो पर बल दिया गया है और इन्ही के फलस्वरूप सुख-दुख की व्यवस्था की है। श्रमण परम्परा का भारत मे व्यापक प्रचार होनेपर भी उसका क्षेत्र प्राय: धर्म तक सीमित रहा। राजनीति तथा सामाजिक रहन-सहन मे उसका प्रवेश नही हुआ। बुद्ध तथा महावीर ने राज्य-सचालन तथा समाज-व्यवस्था के लिए कोई सहिता नही बनाई। उनके न्याय का मुख्य आधार आध्यात्मिक था, जो कर्मसिद्धान्त के रूप मे मिलता है। व्यक्ति अहिंसा, सत्य आदि नैतिक नियमो का जितना पालन करता है उतनी ही उसकी आत्मा ऊची उठती है और परलोक मे सुख प्राप्त करती

है। इस सुख की पराकाष्ठा ही मोक्ष या निर्वाण है, जो उच्चतम नैतिकता के पालन से प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक न्याय मे कर्म और फल का परस्पर भेद नही रहता। अहिसा और सत्य का पालन अपने-आप मे सुख है। इनके फल के रूप मे स्वर्ग-सुखो का जो वर्णन मिलता है वह केवल प्रलोभन है, शाश्वत सिद्धान्त के अनुरूप नही है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने धर्म के लक्षणो मे आत्मा को भी रखा है, जो नैतिकता का ही दूसरा नाम है। सुकरात ने इसी को ईश्वर की इच्छा के रूप मे प्रकट किया है।

न्याय और परस्पर समझौते

प्राचीन भारत मे न्याय का आधार समय या परस्पर समझौते भी रहे है। 'समय' शब्द का अर्थ है—सम् अर्थात मिलकर 'अय' अर्थात चलना। इसी आधार पर धार्मिक सगठनो मे प्रचलित व्यवस्था को भी समय कहा जाता था। यहा तीन शब्द उल्लेखनीय है:

१ शासन
२ अनुशासन
३ समय

शासन का अर्थ है व्यक्ति या पुस्तक विशेष की आज्ञा। अनुशासन का अर्थ है उस आज्ञा के आधार पर चलनेवाली परम्परा। समय का अर्थ है परस्पर मिलकर बनाई गई व्यवस्था। इस प्रकार न्याय या व्यवस्था के दो रूप सामने आते है। अनुशासन, अर्थात—किसी अज्ञात या ईश्वरीय मूल को लेकर चलनेवाली परम्परा, जहा व्यक्ति को स्वतन्त्र होकर सोचने का अधिकार नही है। दूसरी व्यवस्था समयमूलक है, जहा व्यक्ति मिलकर स्वय निर्णय करते हैं, कोई निर्णय ऊपर से नही लादा जाता। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र मे समय को ही धर्म का आधार बताया गया है। भिन्न-भिन्न वर्गो एव जातियो के अलग-अलग समय होते थे। किन्तु आपस्तम्ब को छोडकर अन्य धर्म-सूत्रो मे समय को धर्म का आधार नही माना गया। वहा श्रुति अर्थात परम्परा को ही मुख्य रखा गया है। स्मृति-ग्रन्थो मे न्याय के लिए दो शब्दो का प्रयोग है—(१) धर्म और

(२) व्यवहार । धर्म का आधार श्रुति या प्राचीन परम्परा है और व्यवहार का आधार परस्पर समझौता है। यह समय का ही दूसरा नाम है।

वर्तमान युग मे इसी को विनिमय के रूप मे उपस्थित किया जाता है। मालिक और मजदूर, दो व्यापारी, राजा और प्रजा लेन-देन के रूप मे समझौता कर लेते है। किन्तु इसे प्रत्येक परिस्थिति मे उचित नही कहा जा सकता। मजदूर विवश होकर अपने श्रम को अत्यल्प मूल्य मे वेच देता है। प्रजा को राजा से डरकर उसकी अनुचित मागे भी स्वीकार करनी पडती है। किन्तु उतने मात्र से उन्हे न्याय नही कहा जा सकता। समझौते को न्याय का आधार वही माना जा सकता है, जहा किसी प्रकार की विवशता न हो। दोनो पक्षो को समझौता न करने की खुली छूट हो, अर्थात समझौता न करने पर किसी पक्ष को भूख या अन्य सकट का भय न हो। विवशता की स्थिति मे किया जानेवाला समझौता न्याय का आधार नही बनाया जा सकता। एक व्यक्ति परिस्थितियो के अधीन होकर किसी धनवान से ऋण लेता है और उसके बदले मे अपनी सन्तान को गुलाम बना देता है। कई बार ऐसा भी होता है कि ऋण न चुका सकने के कारण उसे अपना घरवार वेचना पडता है। उसका परिवार वेघरवार होकर भूख से तडपने लगता है। समझौते के आधार पर बने हुए राजकीय नियम के अनुसार यह अन्याय नही है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही कहा जा सकता। विवशता मे किया गया समझौता किसी व्यक्ति को जीवन की मौलिक आवश्यकताओ से वचित नही कर सकता।

न्याय और सर्व हित

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कैन्ट के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप मे लक्ष्य है, अर्थात—एक व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्ति के स्वार्थों का वलिदान नही होना चाहिए। इसी को न्याय कहते है। यहा एक प्रश्न है, जब दो व्यक्तियो के स्वार्थ परस्पर टकराते हो तो न्याय का आधार क्या होगा ? कैन्ट ने इसके लिए वहुजन-हित का सिद्धान्त प्रस्तुत

किया है। उसका कथन है कि जिस कार्य से अधिक सख्यक जनता का हित हो, वही न्याय है। बहुमत के लिए अल्पसख्यक के स्वार्थों को ठुकराना अन्याय नही है, किन्तु यह मान्यता ठीक नही कही जा सकती। यदि दस व्यक्तियो मे से छह एक ओर हो जाते है और चार दूसरी ओर, तो प्रथम वर्ग द्वितीय वर्ग के स्वाभाविक अधिकारो को कुचलने लगता है तो इसे न्याय नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे नैतिक नियमो का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, अर्थात जो वर्ग सत्य पर है उस की विजय ही न्याय है। इसका अर्थ है कि बहुमत और अल्पमत का निर्णय सकुचित क्षेत्र को लक्ष्य मे रखकर नही होना चाहिए। उसके लिए समस्त विश्व को सामने रखना चाहिए।

कैन्ट ने इसी तथ्य को दूसरे शब्दो मे उपस्थित किया है। उसका कथन है कि न्याय का अर्थ है वे सिद्धान्त, जिनके अनुसार प्रवृत्ति करने पर ईश्वर और प्रवर्तक की इच्छा एक होजाती है। न्याय का मापदण्ड सर्व-साधारण की इच्छा है। यदि व्यक्ति अपनी हलचल मे सार्वजनिक इच्छा का ध्यान रखता है तो वह न्यायी है अन्यथा अन्यायी। यह एक प्रकार से समता की ही व्याख्या है।

न्याय और अहिंसा

हीगल के मतानुसार न्याय का अर्थ है वे सिद्धान्त, जिनके अनुसार चलने पर मनुष्य को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता दी जा सकती है। इसका अर्थ है अहिंसा। व्यक्ति जितना हिंसक होगा उतना ही वह दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा। जब दो व्यक्ति हिंसक हो जाते है तो किसी की स्वतन्त्रता नही रहती। दोनो एक-दूसरे के अधि-कार को छीनने के लिए प्रयत्नशील रहते है। दूसरी ओर उनके जीवन मे ज्यो-ज्यो अहिंसा आती जाती है, दोनो की स्वतन्त्रता बढती चली जाती है।

भारत मे अहिंसा को धर्म का आधार माना गया है और हिंसा को पाप का। इन्हीका दूसरा नाम न्याय और अन्याय है।

न्याय और सुख

व्यक्तियो का परस्पर व्यवहार तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रेम-मूलक (२) समता मूलक और (३) हिंसा-मूलक। प्रेम-मूलक व्यवहार मे व्यक्ति अपने अधिकार का परित्याग करके भी दूसरे को सुख पहुचाना चाहता है और हिंसामूलक व्यवहार मे दूसरे का अधिकार छीनकर अपने सुख की वृद्धि करना चाहता है। इन दोनो के बीच तीसरी कोटि समतामूलक व्यवहार की है। जहा दोनो पक्ष अपने अधिकारो की सीमा बाध लेते है और मिलकर निर्वाह करते है। स्थूल रूप मे इसी को न्याय कहा जाता है, किन्तु सीमा-निर्धारण किस आधार पर होना चाहिए यह प्रश्न विवादग्रस्त है।

साधारणतया यह माना जाता है कि जिस सीमा निर्धारण से दोनो पक्षो को सुख हो वही न्याय है। किन्तु यह सर्वत्र सम्भव नही है। जहा एक ही वस्तु को दो व्यक्ति चाहते हैं और उसमे बटवारा नही हो सकता, वहा न्याय दोनो को सुख नही दे सकता। उदाहरण के रूप मे, एक ही स्त्री से दो व्यक्ति प्रेम करते हैं और आपस मे झगडते हैं तो न्याय दोनों को सुखी नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे न्याय करने के लिए स्त्री की इच्छा या अन्य आधारो को ढूढा जायगा।

सुलेमान का न्याय प्रसिद्ध है। उसके पास झगडती हुई दो स्त्रिया गई। दोनो एक बालक पर अपना-अपना अधिकार जमा रही थी। सुलेमान को पता नही था कि वास्तविक माता कौन है। इस बात का निर्णय करने के लिए उसने कहा—"बालक को काटकर दोनो मे आधा-आधा बाट दो," नकली माता ने फैसला स्वीकार कर लिया। उसे यह सन्तोष था कि बालक मुझे नही मिला तो दूसरी के पास भी नही गया। किन्तु असली माता इस निर्णय को न सह सकी। वह बोली, "मै अपना अधिकार वापिस लेती हू। बालक को जीवित रहने दिया जाय, उसे दूसरी स्त्री ही ले ले।" सुलेमान को पता लग गया कि असली माता कौन है और उसे ही बालक सौंप दिया गया। किन्तु यदि दूसरी स्त्री भी इसी प्रकार कहने लगती और वह भी अपने दावे को वापस ले लेती

तो न्याय का रूप क्या होगा, यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है ।

कई बार प्रजा से यह कहा जाता है कि शासक के सुख को अपना सुख माने । ऐसी स्थिति मे शासक की इच्छा-पूर्ति ही न्याय बन जाती है और प्रजा का अपने सुख के लिए आवाज उठाना अन्याय हो जाता है।

जो बात सुख के लिए है वही हित के विषय मे भी कही जा सकती है । एक व्यक्ति अपना हित आत्मसम्मान की रक्षा मे मानता है और उसके लिए युद्ध करना न्यायपूर्ण अधिकार समझता है । दूसरा बाह्य सुख-सुविधाओ की रक्षा मे अपना हित मानता है और इसके लिए पराधीनता को बुरा नही समझता । दोनो की दृष्टि मे न्याय का रूप भिन्न होगा ।

न्याय और उपयोगितावाद

अमरीका के कुछ दार्शनिको का कथन है कि न्याय अथवा कानून का आधार उपयोगिता है । उदाहरण के रूप मे, यदि दो व्यक्तियो मे झगडा है तो यह देखना चाहिए कि हमारे लिए कौन-सा अधिक उपयोगी है और उसी के पक्ष मे निर्णय देना चाहिए । प्राय व्यापारियो की मनोवृत्ति इसी प्रकार की होती है । उनकी दृष्टि मे स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरे वर्ग का दमन या उसकी सुविधाओ को सकुचित करने मे कोई हानि नही है । उपनिवेशवादी भी इसी मनोवृत्ति से काम लेते हैं । वे यह मानते है कि शासक-वर्ग की सुविधाओ के लिए शासित या मूल-निवासियो का शोषण करने मे कोई हानि नही है और वे उसी प्रकार के कानून बनाते रहते हैं। अमरीका मे नीग्रो जाति को वे अधिकार प्राप्त नही है, जो गोरी जाति को है । अफ्रीका मे वहा के मूल निवासी नागरिक-अधिकारो से वचित है । शासको की दृष्टि मे यह अन्याय नही है ।

इस सिद्धान्त मे दो दोष है । पहला यह है कि इसमे मानव और मानव मे परस्पर विषमता स्वीकार की गई है, जो अपने-आपमे अन्याय है । जबतक एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने से हीन समझता रहेगा तबतक एक को दूसरे से भय बना रहेगा । वाल्मीकि रामायण का कथन

है—'भय भीताद्धि जायते,' अर्थात जो हमारे से डरा हुआ है, हमे सदा उसीका डर रहता है। शोषक को शोषित से सदा भय वना रहता है। इससे मुक्ति पाने के लिए वह अधिकाधिक शोपण करता है और कठोर उपायो को काम मे लाने लगता है। एक ओर शस्त्रास्त्र एव हिंसक साधनो को बढाता जाता है और दूमरी ओर शोषित को बन्धनो में जकडता चला जाता है। फिर भी भय की मात्रा मे कमी नही होती, प्रत्युत वढती ही चली जाती है। शोपक की लूट दूसरो के लिए प्रलोभन वन जाती है। वह समस्त विश्व को सन्देह-भरी दृष्टि से देखने लगता है और आशकित भय के लिए अनेक प्रकार की तैयारिया प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार अपनी अशान्ति के साथ दूसरो की शान्ति भी समाप्त कर देता है।

उपयोगितावाद मनुष्य के वाह्य रूप या भौतिक अस्तित्व पर आधारित है और इसका मूल प्रेरक स्वार्थ-वृत्ति है। इसे स्वीकार करने पर हमे यह मानना होगा कि स्वार्थ-वृत्ति का पोपण प्रत्येक व्यक्ति का न्यायपूर्ण अधिकार है। अपने समर्थन मे उपयोगितावाद का तर्क है कि राष्ट्र या समाज के स्वार्थ के लिए वैयक्तिक स्वार्थ को छोडना होगा, क्योकि राष्ट्र के नष्ट होने पर व्यक्ति सुरक्षित नही रह सकता। किन्तु यह तर्क दोपपूर्ण है। एक व्यक्ति यह मानता है कि देश-भक्त नागरिक के रूप मे उसे जो सुख-मुविधाए प्राप्त है, आक्रामक शत्रु के साथ मिलने पर उसे कही अधिक प्राप्त हो सकती हैं। ऐसी स्थिति मे क्या राष्ट्र के प्रति विश्वासघात न्याय न कहा जायगा ? उपयोगितावाद ऐसे किसी लक्ष्य को उपस्थित नही कर सकता, जिसे निर्विवाद रूप मे स्वीकार किया जा सके। यदि राष्ट्र-हित के लिए वैयक्तिक स्वार्थ का परित्याग न्याय है तो विश्व-हित के लिए राष्ट्रीय हित का परित्याग भी न्याय मानना होगा और वीच की समस्त परिधियो को समाप्त करना होगा। इसका अर्थ है समस्त विश्व एक राष्ट्र है, प्रत्येक व्यक्ति उसका नागरिक है। एक नागरिक या उनके समूह के लिए दूसरे नागरिक की उपेक्षा करना अन्याय है। उपयोगितावाद जवतक सकुचित क्षेत्र से सम्वन्ध रखता है, तवतक न्याय की गणना मे नही आता। किन्तु क्षेत्र व्यापक

होने पर वही न्याय की आध्यात्मिक भूमिका पर पहुच जाता है।

स्वार्थ-वृत्ति अपने-आपमे कोई दोष नही है। कानून का जन्म भी स्वार्थों के सरक्षण के लिए होता है। किन्तु जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के स्वार्थों को सीमित कर देता है और इस विषमता को स्वाभाविक आधार मानकर कानून बनाता है तो वे न्याय के स्थान पर अन्याय बन जाते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थ सुरक्षित रखने का अधिकार है। प्रतिबन्ध तभी लगता है, जब एक का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ मे बाधा डालने लगता है। यदि कोई व्यक्ति या वर्ग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे के स्वार्थों पर प्रतिबन्ध लगाता है तो उसे न्याय या कानून का आधार नही बनाया जा सकता। इससे विषमता का पोषण होता है जो अपने-आपमे अन्याय है। ऐसी स्थिति मे बल-प्रयोग या हिंसा ही न्याय बन जाता है।

उपयोगितावाद मे सबसे बडा दोष यह है कि इसका कोई निश्चयात्मक आधार नही है। भिन्न-भिन्न वर्गों के स्वार्थ आपस मे टकराते रहते हैं। प्रत्येक वर्ग न्याय की व्याख्या अपनी स्वार्थ-सिद्धि को लक्ष्य मे रखकर करने लगता है। परिणामस्वरूप, न्याय अपने-आपमे सघर्षों का कारण बन जाता है। पूजीपति और मजदूरो मे, तथा अन्य प्रकार से ये सघर्ष विश्व के अभिशाप बने हुए हैं।

मजदूर और पूजीपति मे जो सघर्ष चल रहा है, उसका मुख्य कारण यह नही है कि एक के पास पूजी है और दूसरे के पास नही है। किसी वस्तु का एक के पास होना और दूसरे के पास न होना झगडे का कारण नही होता। अशिक्षित व्यक्ति शिक्षित से झगडा नही करता, प्रत्युत उससे प्रेरणा एव सहायता प्राप्त करके स्वय ऊचा उठने की कोशिश करता है। मजदूर पूजीपति से इसलिए झगड़ता है कि उसे विवश होकर उसकी सेवा करनी पडती है, क्योकि दूसरे की सेवा के बिना उसके पास ऐसा कोई मार्ग नही है जिससे वह जीवन-यापन कर सके। यदि सबके-सब धनवान हो जाय तो कोई किसी की सेवा नही करेगा। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति को घर, खेत तथा दुकान का सारा काम स्वय करना होगा। घर मे झाडू लगाना, कपडे धोना,

बर्तन माजना, खेत मे मिट्टी खोदना, दुकान की सफाई करना, सामान ढोना आदि सारे कार्य उसे अपने हाथ से करने होगे। धन से जो सुविधाए प्राप्त होती हैं वे किसी को नही मिलेंगी और वह महत्त्वहीन तथा शक्तिहीन हो जायगा।

एक बात और है। प्रत्येक व्यक्ति मे महत्त्वाकाक्षाए होती हैं और वह अन्य व्यक्तियो पर राजनीतिक, सामाजिक या अन्य प्रकार का प्रभाव स्थापित करना चाहता है। अपनी-अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को लेकर व्यक्तियो मे सघर्ष चलते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को पराजित करना चाहता है। ऐसी स्थिति मे उपयोगितावाद का क्या अर्थ होगा ? प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को लक्ष्य मे रखकर उसका भिन्न-भिन्न अर्थ करेगा। जब महात्मा गाधी ने हरिजन आन्दोलन प्रारम्भ किया तो अन्य वर्णों के बहुत से व्यक्तियो ने प्रश्न खडा किया कि हरिजन दूसरो के बराबर हो गए तो कचरा कौन उठायगा, टट्टियो की सफाई कौन करेगा ? चारो ओर गन्दगी फैल जायगी और रोग बढने लगेगे। इगलैंड मे जब छोटे बच्चो के लिए शिक्षा अनिवार्य करदी गई तो एक भद्र महिला ने न्यायालय मे पहुचकर शिकायत की कि उसका नौकर स्कूल जाने लगा है। परिणामस्वरूप चिमनी साफ नही होती और रसोईघर मे गन्दगी फैल रही है। इस प्रकार हम देखते है कि अधिकार-प्राप्त वर्ग उपयोगितावाद की व्याख्या अपने स्वार्थों को लक्ष्य मे रखकर करता है। अत. उसे न्याय का आधार नही बनाया जा सकता।

एक बात और है। उपयोगिता या लाभ को न्याय का आधार मान लेने पर कर्तव्य या उत्तरदायित्व की रक्षा नही हो सकती। बहुत-से कार्य ऐसे हैं, जिन्हे प्रत्यक्ष लाभ न होने पर भी करना आवश्यक होता है। उदाहरण के रूप मे, वृद्ध तथा रोगियो की सेवा, कष्ट-पीड़ित की रक्षा इत्यादि।

उपयोगितावाद मे प्रत्येक मनुष्य इस बात को सोचकर चलता है कि उसके द्वारा किया जानेवाला कार्य किसी स्वार्थ को सिद्ध करता हैं या नही। ऐसी स्थिति मे पुत्र कह सकता है कि वृद्ध माता-पिता की सेवा करना मेरा कर्तव्य नही है, क्योकि उनके जीवित रहने मे कोई लाभ

दृष्टिगोचर नही होता। यूनान की एक प्राचीन घटना है—सिसरो नाम का दार्शनिक गड्ढे मे गिर पडा। वह उपयोगितावाद का समर्थक था। सिसरो का एक शिष्य उसी रास्ते से निकला और गुरु को गड्ढे मे पडा देखकर सोचने लगा—इन्हे वाहर निकालने से कोई निश्चित लाभ होगा या नहीं। दो घण्टे तक खडा-खडा सोचता रहा। अन्त मे इस निर्णय पर पहुचा—यह नही कहा जा सकता कि इसमे निश्चित रूप से लाभ ही होगा। गुरुजी वाहर निकलकर कोई बुरा कार्य भी कर सकते है और लाभ के स्थान पर हानि भी पहुचा सकते है। वह गुरुजी को गड्ढे मे छोडकर चला गया। यह घटना उपयोगितावाद के नग्न चित्र को उपस्थित करती है।

दूसरी वात यह है कि यदि व्यक्ति और समाज का स्वार्थ एक-सा होता और उन दोनो में परस्पर सघर्ष न होता तो व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति और समाज के प्रति कर्तव्य एक हो जाते और न्याय का आधार भी उसे ही वनाया जा सकता था। किन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। व्यक्ति और समाज के स्वार्थो मे परस्पर सघर्ष चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक या अन्य प्रकार की सत्ता प्राप्त करके दूसरे के अधिकार को हड़पना चाहता है और उपयोगिता की व्याख्या अपने-को लक्ष्य मे रखकर करने लगता है। इससे विशृंखलता फैलती है और न्याय का उद्देश्य समाप्त हो जाता है।

न्याय और निरतिवाद

अरस्तू ने न्याय के आधार के रूप मे निरतिवाद को प्रस्तुत किया है। उसका कथन है कि समाज-सचालन मध्यम-मार्ग से होता है और वही न्याय है। उदाहरण के रूप मे, कायरता और धृष्टता दोनो अति हैं। एक व्यक्ति इतना उदार है कि अपने जीवन की भी चिन्ता नही करता। दूसरा अत्यन्त कृपण है। न्यायपूर्ण जीवन इन दोनो के बीच है। यह सिद्धान्त साधारण व्यवहार के लिए उपयोगी होने पर भी सर्वत्र ठीक नही होता। बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट आदि महापुरुषो ने अपना सर्वस्व त्याग कर दूसरो की सेवा की। उनके व्यवहार को अन्याय नही कहा जा

सकता। अन्याय का आधार दूसरे के स्वार्थ का हनन है। निजी स्वार्थ का स्वेच्छापूर्वक परित्याग अन्याय नही है। उत्तरदायित्व की दृष्टि से भी उसे अन्याय नही कहा जा सकता, क्योकि वहा उच्च लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधारण लक्ष्य का परित्याग किया जाता है। विज्ञान, दर्शन या कला की उपासना मे लीन रहने के कारण यदि कोई व्यक्ति अपने वस्त्र स्वय नही धोता या भोजन नही बनाता तो उसे अन्याय नही कहा जा सकता।

न्याय और स्वतन्त्रता

फ्रास के कुछ दार्शनिक मनुष्य की स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व देते है। उनके मत मे न्याय का अर्थ है—वैयक्तिक स्वतन्त्रता। इसमे बाधा डालनेवाला प्रत्येक कार्य उनकी दृष्टि मे अन्याय है। किन्तु यदि मनुष्य का अर्थ उसका बाह्य रूप है और स्वतन्त्रता का अर्थ भौतिक स्वतन्त्रता है तो सघर्ष अनिवार्य है। एक की स्वतन्त्रता दूसरे की पराधीनता पर आधारित है। उसे न्याय नही कहा जा सकता। स्वतन्त्रता का सिद्धान्त तभी सगत हो सकता है जब उसका सम्बन्ध अन्तरात्मा से हो, जहा एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधा नही डालती। भौतिक क्षेत्र मे इसे वही तक अपनाया जा सकता है, जहा तक यह समानता के सिद्धान्त को खण्डित नही करती। इस क्षेत्र मे प्रत्येक को उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार है, जितनी वह दूसरे को दे सकता है।

न्याय और समता

वास्तव मे देखा जाय तो न्याय का आधार समता है, अर्थात दूसरे से हम जिस व्यवहार की आशा करते है वही व्यवहार दूसरे के प्रति भी किया जाय। हम अपने प्राणो की रक्षा चाहते है तो दूसरो के प्राणो की भी रक्षा करे, अपनी धन-सम्पत्ति को बचाना चाहते हैं तो दूसरे की सम्पत्ति का भी अपहरण न करें, स्वय सम्मान चाहते हैं तो दूसरे को भी अपमानित न करें, अपने विचारो को जितना महत्त्व देते हैं उतना

ही दूसरे के विचारो को भी दें। महावीर ने इसके लिए एक कसौटी बताई है। जब तुम दूसरे के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर देखो। यदि वह व्यवहार तुम्हे बुरा लगता है तो दूसरे को भी बुरा लगेगा। इसके विपरीत, जिस व्यवहार की तुम आशा रखते हो वैसा ही दूसरे के प्रति करना न्याय है।

दूसरो के साथ हमारा सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—कही हिंसात्मक और कही अहिंसात्मक। इन्ही को दूसरे शब्दो मे बल-प्रयोग और न्याय कहा जाता है। बल-प्रयोग का आधार विषमता है। वहा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के उन अधिकारो को स्वीकार नही करता जिन्हे वह स्वय प्राप्त करना चाहता है। वह अपने जीने के अधिकार को तो स्वीकार करता है, किन्तु दूसरे के इस अधिकार को स्वीकार नही करता और विषमता-पूर्ण व्यवहार का समर्थन करने के लिए अनेक तत्त्वो की कल्पना करता रहता है। दूसरी ओर न्याय समता को लक्ष्य मे रखकर चलता है। बाह्य व्यवहार मे भेद होने पर भी वहा व्यक्ति की अन्तरात्मा यह नही मानती कि उसे समान अधिकारो से वञ्चित किया जा रहा है।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे न्याय को कर्म-सिद्धान्त के रूप मे प्रकट किया जाता है। इसका भी आधार समता है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति जैसा कार्य करता है उसे तदनुसार फल मिलता है। वर्ण, लिंग, सम्पत्ति आदि के आधार पर फल मे किसी प्रकार का भेद नही किया जाता। लोकतन्त्र का कथन है कि राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे भी न्याय का आधार समता होना चाहिए, अर्थात न्याय-सहिता मे दण्डविधान करते समय व्यक्ति तथा व्यक्ति मे किसी प्रकार का भेद न किया जाय। योग्यता होने पर सबको समान सुविधाए प्राप्त हो और बुरा कार्य करने पर सबको एक-सा दण्ड मिले।

समता का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ बाह्य व्यवहार एक-सा हो। बालक जिस व्यवहार को पसन्द करता है, वही वृद्ध को कष्ट एव अपमानजनक प्रतीत होता है। इसी प्रकार वृद्ध को सुख देनेवाला व्यवहार बालक के लिए सदा सुखदायी नही होता। भिन्न-भिन्न

वातावरण मे पले हुए व्यक्तियो की रुचिया भिन्न-भिन्न होती है। एक व्यक्ति की रुचि भी परिस्थिति बदलने पर बदल जाती है। ऐसी स्थिति मे सर्वत्र एक-सा व्यवहार न्याय के स्थान पर अन्याय बन जाता है। पुत्र या शिष्य अपने पिता अथवा गुरु को ऊचे आसन पर बैठाना चाहता है और स्वय नीचे बैठकर प्रसन्न होता है। इसे विषमता या अन्याय नही कहा जा सकता।

अनेक स्थानो पर व्यवस्था एव सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्य करे और यह कार्य योग्यता के आधार पर सौपा जाता है। अनपढ को विधान-निर्माण या अध्यापन का कार्य नही दिया जा सकता। इसे अन्याय नही कह सकते, क्योकि इसका लक्ष्य विषमता नही है। अन्याय तभी है, जब योग्यता होने पर भी उसे इस अधिकार से वञ्चित रखा जाय और उसका लक्ष्य सामाजिक व्यवस्था या सार्वजनिक-हित न हो। वह मन मे यह अनुभव करे कि बिना किसी सार्वजनिक उद्देश्य के उसे अपने अधिकार से वञ्चित किया जा रहा है।

न्याय और श्रम

श्रम का मूल्य निर्धारण करने के लिए समता के सिद्धान्त को अपनाया जाता है, अर्थात व्यक्ति ने कितना श्रम किया है, इसका निर्णय उत्पादन के आधार पर होता है और तदनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है। इसका अर्थ है जो व्यक्ति दस गज कपडा बुनता है उसकी तुलना मे नौ गज बुननेवाले को कम पारिश्रमिक मिलेगा। मार्क्स ने इस सिद्धात का खण्डन किया है। उसका कथन है कि बलवान को दस गज कपडा बुनने मे जितना श्रम होता है, दुर्बल को नौ गज बुनने मे उससे भी अधिक होता है। ऐसी स्थिति मे उत्पादन को श्रम का मापदण्ड नही बनाया जा सकता। काम और पारिश्रमिक मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही रहना चाहिए। जिस प्रकार शारीरिक दृष्टि से व्यक्तियो की योग्यता एक-सी नही होती उसी प्रकार रुचि एव आवश्यकता की दृष्टि से भी उनमे परस्पर भेद है। इसके लिए मार्क्स ने आवश्यकतानुसार

पारिश्रमिक का प्रतिपादन किया है, अर्थात जिसकी जैसी योग्यता हो उससे वैसा काम लिया जाय और आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाय।

यहा यह प्रश्न होता है कि काम की योग्यता और वैयक्तिक आवश्यकताओ का निर्णय कौन करेगा ? इसे काम करनेवाले व्यक्ति की इच्छा पर नही छोडा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम काम करना चाहेगा और अधिक-से-अधिक आवश्यकताए प्रकट करेगा। यह आवश्यक है कि इस प्रश्न को व्यक्ति के हाथ मे न छोडकर कुछ ऐसे सामाजिक नियम बनाये जाय जिनसे श्रम और आवश्यकता-पूर्ति का नियम अपने-आप चलने लगे। इसके लिए उत्पादन को ही आधार बनाया जा सकता है। यह ठीक है कि इसमे पूर्ण समता नही स्थापित होती। किन्तु वह किसी भी सामाजिक व्यवस्था मे सम्भव नही है। इतना ही पर्याप्त है कि विषमताओ को जहा तक हो सके दूर किया जाय।

वास्तव मे देखा जाय तो न्याय का कोई आधार ऐसा नही है जिसे तर्क के बल पर सिद्ध किया जा सके। वैयक्तिक या सामाजिक, भौतिक या आध्यात्मिक, स्वतन्त्रता या सुरक्षा, सत्य या न्याय किसी भी लक्ष्य को प्रस्तुत किया जाय, उसके पीछे कोई ठोस युक्ति नही है। प्रत्येक आधार सापेक्ष और व्यक्ति-निष्ठ है, फिर भी उसे शाश्वत और सार्वत्रिक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। उसे निरपेक्ष एव आत्यन्तिक सत्य के रूप मे प्रकट किया जाता है।

मनुष्य की यह विशेषता है कि वह अपने व्यवहार को न्यायपूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। वह यह बताना चाहता है कि मेरी प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक की गई है। दूसरे प्राणियो मे यह वृत्ति नही होती। जगल में सबल प्राणी दुर्बल प्राणियो को खा जाते हैं। बडी मछलिया छोटी मछलियो को निगल जाती है। उन्हे यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नही होती कि हमारा व्यवहार न्यायपूर्ण है। किन्तु मनुष्य जब किसी पर अत्याचार करना चाहता है तो वह न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए बहाना ढूढता है। वह अपनी अन्तरात्मा तथा समाज को

सन्तुष्ट करना चाहता है और इसके लिए युक्ति एव आधारो की कल्पना करने लगता है। मिथ्या सन्तोष द्वारा अपने-आपको तृप्त करना चाहता है। भेडिये और मेमने की कथा प्रसिद्ध है। भेडिया मेमने को खाना चाहता था। साथ ही खुल्लम-खुल्ला अन्याय नही करना चाहता था। उसने मेमने पर आरोप लगाये। वे निराधार निकले तो यही दोष लगाया कि तुम्हारी मा ने मुझे गाली दी थी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि शक्तिशाली मानव अपनी अनुचित इच्छाओ को पूर्ण करने के लिए न्याय के रूप को बदलता आ रहा है। स्वय ईश्वर का रूप धारण करके उसने यह कहा—ईश्वर की प्रत्येक इच्छा को तृप्त करना और उसकी सेवा मे तन, मन तथा धन सब-कुछ अर्पित कर देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। जो इस कर्तव्य का पालन नही करता उसे दण्ड देना न्याय है। दूसरो का स्वत्व अपहरण करने के लिए उसने कहा—सब कुछ राजा का दिया हुआ है। अत राजा यदि छीन लेता है तो यह अन्याय नही है। धर्म-सस्था को साथ मिलाकर उसने श्रद्धालुओ को अपनी वासनापूर्ति के लिए विवश किया। इस प्रकार, हम देखते है कि मानव धर्म, राजनीति, समाज, व्यवस्था-आदि की आड लेकर अपने अत्याचार को न्याय का रूप देता आ रहा है।

मनुष्य का व्यवहार मुख्यतया दो वृत्तियो द्वारा सचालित होता है। वे है—इच्छा और घृणा। बुद्धि इस व्यवहार को न्याय या तर्क पूर्ण सिद्ध करना चाहती है। किन्तु यह कहा तक सम्भव है? यह विचारणीय है। तर्क का आधार है कार्य-कारण भाव। व्यापक अवलोकन एव परीक्षण के आधार पर जब हम इस निर्णय पर पहुचते है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है तो उनमे कार्य-कारण भाव की कल्पना कर लेते है। जबतक खण्डन नही होता उसे सत्यमानकर काम चलाते है। किन्तु न्याय के क्षेत्र मे यह सम्भव नही है। उदाहरण के रूप मे, कुछ सामाजिक अपराधो के लिए मृत्यु-दण्ड देना न्याय समझा जाता है, अर्थात उन अपराधियो को मृत्यु-दण्ड देना समाज के लिए लाभदायक माना गया है। इस मान्यता का आधार कोई तर्क नही है। इस प्रकार का अवलोकन या परीक्षण सम्भव नही है और यदि किया भी जाय तो

वह सीमित क्षेत्र मे ही हो सकता है ।

वास्तव मे देखा जाय तो बुद्धि भावनाओ का अनुसरण करती है । जो बात हमे अच्छी लगती है, वह न्यायपूर्ण प्रतीत होने लगती है और जो बुरी वह अन्यायपूर्ण । तर्क भावनाओ के औचित्य को सिद्ध करने का निष्फल प्रयास होता है । अत इस आधार पर किसी तथ्य का अन्तिम निर्णय नही हो सकता ।

धर्म तथा दर्शन ने न्याय के लिए आध्यात्मिक आधारो को प्रस्तुत किया है । उपनिषदो मे बताया गया है कि आत्मा सत, चित और आनन्दस्वरूप है । इस स्वरूप की अभिव्यक्ति ही जीवन का चरम-लक्ष्य है । जो प्रयत्न इस लक्ष्य की पूर्ति की ओर ले जाता है वह न्याय है और जो उससे विमुख करता है, वह अन्याय है । इसके लिए उपनिषदो मे एकता के विकास पर वल दिया गया है । वहा बताया गया है कि व्यक्ति भेद-बुद्धि को छोडकर ज्यो-ज्यो एकता की ओर अग्रसर होता है उतना ही परमात्मा बनता चला जाता है । जैन-धर्म मे इसी लक्ष्य को अनन्त चतुष्टय के रूप मे प्रकट किया गया है । इस लक्ष्य की प्राप्ति समता या सर्व-मैत्री के अभ्यास से होती है । अत. समता और मित्रता की ओर उठाया गया प्रत्येक कदम न्याय है और शेष अन्याय । बौद्ध-दर्शन ने उसी लक्ष्य को शून्य के रूप मे उपस्थित किया है और इसके लिए महा करुणा को साधना के रूप मे प्रस्तुत किया है । वेदान्त-दर्शन के अनुसार भेद-बुद्धि, जैन-धर्म के अनुसार मोह या राग-द्वेष और बौद्ध-धर्म के अनुसार तृष्णा ही अन्याय है । प्लेटो ने भी अपने दार्शनिक विचारो मे न्याय के इसी रूप को उपस्थित किया है । उसने जीवन-सचालन के लिए ऐसे आदर्शो की कल्पना की है, जो कभी प्राप्त नहीं हो सकते । उनकी ओर वढते रहना ही न्याय है । महात्मा गाधी ने भी लक्ष्य को इसी रूप मे उपस्थित किया है । उनका कथन है कि लक्ष्य ध्रुव के समान है और मानव जहाज के समान । कोई जहाज ध्रुव तक नही पहुचता, फिर भी यदि उसको लक्ष्य मे रखकर यात्रा करता है तो पथ-भ्रष्ट नही होता । दूसरी ओर जो जहाज उसका ध्यान नही रखता वह अपना रास्ता भूल जाता है । आसन्न स्वार्थ कुछ भी हो, हम स्वतन्त्रता

चाहते हो या सुरक्षा, भौतिक उन्नति या आन्तिरक सुख, उस चिरन्तन सत्य को लक्ष्य मे रखना जरूरी है। भगवद्गीता मे इसी वात को लक्ष्य मे रखकर भगवान कृष्ण ने कहा, "हे अर्जुन, मुझे याद रखो और युद्ध करते रहो।" अन्याय तभी है जब उस परमतत्त्व के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और युद्ध का चरम-लक्ष्य कोई ऐसी वस्तु वन जाती है जिसका मूल्य सापेक्ष है। उदाहरण के रूप मे, यदि युद्ध का लक्ष्य शत्रु का नाश है तो इसका अर्थ है, हम अपने मन मे रही हुई द्वेप-वृत्ति का पोषण कर रहे है। किन्तु यदि शत्रु का नाश न्याय की रक्षा के लिए करते हैं तो हमारा सम्बन्ध शाश्वत लक्ष्य के साथ जुड जाता है और वही कार्य अन्याय से न्याय वन जाता है।

न्याय और विचार-सहिष्णुता

एक व्यक्ति राष्ट्र की रक्षा के लिए शत्रु के प्राण लेना अपना धर्म समझता है। दूसरा अपना सर्वस्व अर्पित करके भी शत्रु से प्रेम करने को कहता है। एक हिंसा को अपना धर्म मानता है और दूसरा अहिंसा को। दोनो मे किसे नैतिक कहा जायगा और किसे अनैतिक? राष्ट्रीयता-वादी अहिंसा को कायरता कहता है और अहिंसावादी राष्ट्रीयता को मिथ्या अहकार। व्यक्ति उलझन मे पड जाता है, कि ऐसे समय क्या किया जाय? उस समय वह अपनी वुद्धि को छोडकर किसी अतीन्द्रिय तत्त्व की शरण लेता है। भगवद्गीता मे अर्जुन का व्यामोह इसी चित्र को उपस्थित करता है। मानव अपने उत्तरदायित्व को किसी उच्चतर शक्ति के हाथ मे सौप कर उलझन से छुट्टी पाना चाहता है। वहुत वार ऐसा भी होता है कि उच्चतर शक्ति का नाम लेकर अनैतिकता का पोपण करने लगता है। आवश्यकता इस वात की है कि मानव कर्तव्याकर्तव्य का उत्तरदायित्व स्वय अपने ऊपर ले। उसका स्वय निर्णय करे। लोकतन्त्र अपने उत्तरदायित्व का किसी भी उच्च-सत्ता के हाथ मे सौंपने की अनुमति नही देता।

अव यह प्रश्न होता है कि अन्तिम निर्णय कैसे किया जाय? लोक-तन्त्र का कथन है कि इसके लिए सर्वप्रथम विचार-सहिष्णुता की भावना

को जीवन में उतारना होगा। प्रत्येक सत्य के अनेक दृष्टिकोण होते हैं। और व्यक्ति जितने अधिक दृष्टिकोणों पर ध्यान रखता है उतना ही सत्य के समीप पहुचता है। प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार-धारा सापेक्ष सत्य को प्रकट करती है। उसे सर्वथा मिथ्या कहना ठीक नही है, और सर्वोच्च सत्य के रूप मे स्वीकार करना भी अनुचित है। इसके लिए यह विचार करने की आवश्यकता है कि उसकी उपयोगिता किस स्थिति मे है? इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक विचारधारा को ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लेना चाहिए। इसका इतना ही अर्थ है कि उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

समस्याए विचारो के परस्पर सघर्ष से उत्पन्न होती है, विचार-सहिष्णुता मे नही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की अनेक समस्याए सहानुभूति-पूर्ण विचार-सहिष्णुता के द्वारा सुलझ गई। लोक-तन्त्र की यही मूलभावना है कि प्रत्येक विवाद को विचार-सहिष्णुता के द्वारा दूर किया जाय। इसके विपरीत, एक तन्त्र मे विरोधी विचारो को अपराध समझा जाता है और हिंसा द्वारा उनका दमन किया जाता है। यहा एक प्रश्न होता है कि यदि कोई लोकतन्त्र का विरोध करता है तो क्या उसे भी खुली छूट दी जायगी? लोकतन्त्र के पास इसका स्पष्ट उत्तर है। यदि वह विरोध शान्तिपूर्ण है तो उसे नही रोकना चाहिए, प्रत्युत उससे लोकतन्त्र को अपने दोषो का ज्ञान होगा और वह उन्हे दूर कर सकेगा। यदि वह विरोध हिंसात्मक है तो उसे रोकना प्रत्येक राज्य-व्यवस्था का कर्तव्य है। ऐसी स्थिति मे विचार-भेद के स्थान पर वह अपराध के दमन का प्रश्न बन जाता है।

लोकतन्त्र का अर्थ है स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का अर्थ है विचार-सहिष्णुता। इसी का दूसरा नाम है वैज्ञानिक दृष्टिकोण। जहा विचारो को दबाया जाता है वहा वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही बन सकता। जहा व्यक्ति को स्वतन्त्र निर्णय का अधिकार नही वहा सत्य की खोज नही हो सकती और यदि सत्य की खोज प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधि-कार है तो वहां प्रत्येक नागरिक इस अधिकार से वञ्चित रहेगा। न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अपने जन्म-सिद्ध अधिकारो का प्राप्त

होना। न्यायपूर्ण व्यवस्था का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज का अवसर प्राप्त होना। उसे अपने विचारो को प्रकट करने की पूरी छूट मिलना। यदि उसका व्यवहार दूसरे की न्याय-पूर्ण स्वतन्त्रता मे बाधा नही डालता तो वहा भी किसी प्रकार का नियन्त्रण न होगा। लोकतन्त्र इसी न्याय की स्थापना करना चाहता है।

लोकतन्त्र और न्याय का लक्ष्य

लोकतन्त्र मे न्याय का लक्ष्य नीचे लिखे अनुसार माना जाता है :

१ समस्त राज्य मे एक ही न्याय-सहिता होती है। न्यायालय, पुलिस तथा अन्य अधिकारी उसी के अनुसार चलते है। विभिन्न अधिकारियो, विभागो या प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न न्याय नही होता। इसके विपरीत अलोकतन्त्रीय शासन मे राजा को कानून की अनेक धाराओ से मुक्त कर दिया जाता है। बहुत से सैनिक-अधिकारियो पर भी सामान्य न्याय लागू नही होता। लोकतन्त्र इस प्रकार का भेद नही करता।

२ समाज का प्रत्येक सदस्य उस न्याय-सहिता के अनुसार चलने के लिए बाध्य है।

३ वह प्रत्येक सदस्य को समान सरक्षण प्रदान करती है।

४ दण्डित करने का अधिकार केवल न्याय-सहिता को है। उसकी आज्ञा के बिना किसी को दण्डित नही किया जा सकता। अलोकतन्त्रीय शासन मे राजा तथा राज्याधिकारी अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार दण्ड देने लगते है।

५ न्याय-सहिता मे जितना विहित है उतना ही दण्ड दिया जा सकता है, अधिक नही। न्याय का उद्देश्य प्रतिशोध नही है, किन्तु समाज-विरोधी तत्त्वो पर नियन्त्रण है।

६ लोकतन्त्र मे न्याय का सम्यक-सचालन करने के लिए यह भी आवश्यक माना जाता है कि न्यायालय पर शासन का अधिकार न हो, जिससे अवसर आने पर वह शासको के विरुद्ध भी न्याय दे सके। लोकतन्त्र मे साधारण व्यक्ति को भी उच्चतम अधिकारी के विरुद्ध अभियोग

चलाने का अधिकार है और वह न्यायालय से निष्पक्ष निर्णय की आशा करता है। शासक अपने पक्ष में निर्णय देने के लिए न्यायपति पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दवाव नही डाल सकता।

७ यदि शासन मे किसी प्रकार की अव्यवस्था है तो न्यायपति को उसके विरुद्ध भी न्याय देने का पूर्ण अधिकार है। वह शासन की निन्दा कर सकता है और शासन द्वारा चलाये गए अभियोग को रद्द करके अभियुक्त को मुक्त कर सकता है।

: ५ :

मित्रता

लोकतन्त्र की पाचवी मूल भावना मित्रता है। महत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो इसका स्थान सर्वोपरि है। जवतक मनुष्य और मनुष्य का परस्पर व्यवहार प्रेमपूर्ण नही होता, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपना मित्र नही मानता, तवतक वैयक्तिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान नही हो सकता। विश्व के इतिहास मे अनेक सस्थाए जन्म ले चुकी हैं, जिन्होने शान्ति के लिए महान प्रयत्न किये। किन्तु समस्याए नया रूप लेकर पुन सामने आ गईं और उत्तरोत्तर भीषणतर होती चली गईं। इसका मुख्य कारण द्वेष-वृत्ति है।

साधारणतया मनुष्य अपने अधिकार और दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है। अपने गुणो को और दूसरे के दोषो को वडा-चढा कर कहता है। किन्तु मित्रता की भावना आने पर परिस्थिति उलट जाती है। वहा व्यक्ति अपने कर्तव्य पर ध्यान देने लगता है और दूसरे के अधिकार पर। अपने दोषो पर दृष्टि रखता है और दूसरे के गुणो पर। वहा आदान के स्थान पर प्रदान की भावना वलवती हो जाती है। एक मित्र दूसरे मित्र के लिए जितना उत्सर्ग करता है उतनी ही उसकी प्रसन्नता वढती चली जाती है।

मानव अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए सदा से दो प्रकार के उपाय काम मे ला रहा है। प्रथम प्रकार मित्रता पूर्ण उपायो का है, जहा वह दूसरे के लिए त्याग करके प्रसन्न होता है। द्वितीय प्रकार शत्रुतापूर्ण उपायो का है, जहा दूसरे को मार कर, दबाकर, उसकी सम्पत्ति को छीनकर स्वार्थ-सिद्ध किया जाता है। पारिवारिक जीवन मे प्रथम प्रकार के उपाय काम मे आ रहे हैं और राजनीतिक मे द्वितीय प्रकार के। सामाजिक क्षेत्र मे दोनो प्रकार वरते जाते हैं। जहा प्रथम अर्थात मित्रतापूर्ण सम्बन्धो से काम लिया गया, सुख एव शान्ति की सर्वतोमुखी वृद्धि हुई। वहा जो समस्याए खडी होती हैं उनका तत्काल शान्तिपूर्ण समाधान हो जाता है। दूसरी ओर शत्रुतापूर्ण सम्वन्धो मे तनिक-सी समस्या भयकर रूप धारणकर लेती है। ऐसे सम्वन्धो का इतिहास युद्धो का भीषण इतिहास है।

साधारणतया मनुष्य परिस्थितियो का गुलाम होता है, अर्थात उसके विचार और व्यवहार पर परिस्थितियो का नियत्रण रहता है। इसका अर्थ है, वह जो धारणाए वनाता है, उनका आधार उसके अपने स्वार्थ एव परिस्थितिया होती है। वे धारणाए एकाङ्गी दृष्टिकोण को लिये रहती है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते है। उदाहरण के रूप मे, मनुष्य का जो रूप शरीर-शास्त्री के सामने है वह कलाकार के सामने नही होता। कलाकार उसे एक अखण्ड सुन्दर रचना के रूप मे देखता है और शरीर-शास्त्री यन्त्र के रूप मे। रसायन-शास्त्री उसे कुछ रसायनो का सम्मिश्रण समझता है, प्राणी-शास्त्री हड्डियो, नाडियो और धमनियो का ढाचा। तीसरा वैज्ञानिक कुछ शक्तियो का पुञ्ज। आध्यात्मिक दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। वह मनुष्य को एक शाश्वत तत्त्व मानता है। साहित्यकार या कवि उसे भावनाओ का पुञ्ज मानता है और व्यापारी उत्पादन-यन्त्र। प्रत्येक व्यक्ति मानव का मूल्य अपनी-अपनी दृष्टि से आकता है। उनमे परस्पर विवाद चलते रहते है। धर्म मनुष्य का मूल्य जिन आधारो पर करता है, विज्ञान उन आधारो को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।

जब विचारो के साथ स्वार्थ मिल जाते है तो व्यवहार में भी भेद होने लगता है। स्वार्थों से प्रेरित मनुष्य अपने चारो ओर 'स्व' और 'पर' के रूप मे दो परिधियो की कल्पना करता है। 'स्व' की परिधि मे उसका व्यवहार प्रेममूलक होता है और 'पर' की परिधि मे द्वेषमूलक। स्वार्थो का तनिक-सा सघर्ष जन-नायको के पूर्वाग्रह तथा अन्य अनेक कारण इन परिधियो को बदलते रहते है। भारत के स्वाधीनता-सग्राम मे हिन्दू और मुसलमानो ने एकसाथ मिलकर सघर्ष किया। किन्तु ज्यो-ही फल-प्राप्ति का अवसर आया, नेताओ की महत्त्वाकाक्षाए उग्र रूप धारण करने लगी। जिन नेताओ को यह प्रतीत हुआ कि सम्मिलित भारत मे उनकी आकाक्षाए पूरी नही हो सकेगी, उन्होने वर्ग-विशेष को उभारना शुरू किया और भाई-भाई का नारा लगानेवाले परस्पर शत्रु बन गए। साम्यवादी और पूजीवादी राष्ट्रो मे उग्र सघर्ष चल रहा है, भीषण शस्त्रास्त्रो का निर्माण हो रहा है और विश्व का अस्तित्व खतरे मे पड गया है। राष्ट्रो की आन्तरिक समस्याए भी विचार-भेद या स्वार्थभेद के कारण उग्र रूप ले रही है। मजदूर और पूजीपति, कृषक और जमीदार अपने को एक-दूसरे का शत्रु मानने लगे हैं। इसी प्रकार धर्म, जाति, भाषा, व्यवसाय, आदि के आधार पर नये-नये सगठन खडे हो रहे है, उनका लक्ष्य प्राय रचनात्मक नही होता। वे साधारणतया वर्ग, भाषा आदि किसी तत्त्व की उन्नति के लिए खडे नही होते। उनका नाम लेकर कुछ व्यक्ति अपनी महत्त्वाकाक्षाए पूर्ण करना चाहते है। छोटा या बडा जन-नायक विद्यमान सगठन मे उच्च पद न मिलने पर नया सगठन खडा कर लेता है। उसका मुख्य लक्ष्य प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाना होता है और इसके लिए सर्वसाधारण को पथ-भ्रष्ट करने मे कोई हिचकचाहट नही होती। इस प्रकार हम देखते है कि सिद्धान्तो का नाम लेकर खडे होनेवाले सघर्ष वास्तव मे स्वार्थो के सघर्ष होते हैं। चारो ओर अधिकारो की चर्चा है। प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करने पर तुला हुआ है। वह इस बात को भूल गया है कि अधिकार वह सम्पत्ति है, जिसका उपार्जन कर्तव्य के द्वारा किया जाता है। किन्तु वह कर्तव्य की उपेक्षा करके अधिकार लोलुप बना

हुआ है। परिणामस्वरूप टक्करे हो रही है और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है। इस परिस्थिति मे धर्म, राज्य या समाज के नाम पर किसी व्यवस्था को अपनाया जाना सफल नही हो सकता। जवतक एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को तथा एक वर्ग दूसरे वर्ग को अपना शत्रु मान रहा है, तबतक शान्ति स्थापित नही हो सकती और मानव विकास के स्थान पर ह्रास की ओर बढता चला जायगा। इसका एक ही समाधान है कि व्यक्तियो और वर्गो के परस्पर सम्बन्धो को मित्रतापूर्ण बनाया जाय।

मित्रता का अभ्यास

ऊपर बताया जा चुका है कि मित्रता या शत्रुता का कोई वास्तविक कारण नही होता। हमारे मन मे जमी हुई धारणाए ही उनका मुख्य कारण हैं। जिस व्यक्ति को हम अपना शत्रु मान लेते है, उसकी प्रत्येक बात बुरी मालूम पडती है, वही जब मित्र बन जाता है तो प्रत्येक बात अच्छी लगने लगती है। अनेक बार देखा गया है कि चिरकाल के बिछुडे हुए दो भाई एक-दूसरे को न पहचानने के कारण परस्पर भीषण युद्ध करते है, उस समय दोनो को एक-दूसरे की हलचल शत्रुतापूर्ण दिखाई देती है, किन्तु पहचान होते ही सारा वातावरण बदल जाता है, सारी कटुता मधुरता मे बदल जाती है।

विचारको ने कटु सम्बन्ध को मित्रतापूर्ण बनाने के लिए चार बातें बताई है। बौद्धधर्म मे इन्हे ब्रह्मविहार कहा गया है। जैनधर्म मे इन्हे मैत्री-भावना और योगदर्शन मे चित्त को प्रसन्न करने के उपाय।

१ **मैत्री** : जब हम पराये व्यक्ति को सुखी देखते है तो मन-ही-मन ईर्ष्या होने लगती है, हम उसके सुख को छीनना चाहते है, ऐसा नही कर पाते तो अदर-ही-अदर द्वेष से जलने लगते है। किन्तु यदि हम उसे अपना मित्र मानते हैं तो द्वेषभावना अपने-आप चली जाती है और उसके स्थान पर आनन्द होने लगता है। उसकी उन्नति से हमे सुख मिलता है। दूसरे व्यक्ति को हम अपना मित्र समझते है या शत्रु, इसकी यही एक कसौटी है कि उसकी उन्नति से हमे सुख होता है या

दुख। उसके प्रति मित्रता की भावना ज्यो-ज्यो बढेगी ईर्ष्या और द्वेष घटते जायगे और प्रसन्नता मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी।

२. करुणा : पराये व्यक्ति को कष्ट मे देखकर हम उसमे घृणा करने लगते है। यदि वह दरिद्रता, रोग, अभाव या किसी सकट से घिरा हुआ है तो मन-ही-मन तृप्ति का अनुभव होता है; किन्तु मित्रता की भावना होने पर घृणा का स्थान करुणा ले लेती है, उसके सकट से तृप्ति होने के स्थान पर मन मे एक प्रकार की बेचैनी होने लगती है और उसे दूर करने मे सुख का अनुभव होने लगता है।

३ मुदिता : जब हम पराये व्यक्ति को शुभ कार्यों मे लगा हुआ देखते है तो उसकी कीर्ति को सहन नही कर पाते। उसके सच्चे-झूठे दोष निकालने की चेष्टा करते है, उसके गुणो को छिपाकर त्रुटियो को प्रकट करते रहते है, किन्तु अपना समझ लेने पर उसकी कीर्ति से प्रसन्नता होने लगती है।

४ उपेक्षा . जो व्यक्ति हमारे विपरीत चलता है साधारणतया उसके प्रति द्वेप बुद्धि रहती है, किन्तु यदि हम मन-ही-मन उसके कल्याण की कामना करें, सच्चे हृदय से यदि चाहे कि उसे सद्बुद्धि प्राप्त हो तो द्वेप वृत्ति दूर हो जायगी और मन शात हो जायगा।

इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेप, घृणा, असहिष्णुता, असूया आदि दोषो पर विजय प्राप्त करके हम अपने मन में प्रेम, सहानुभूति, करुणा, गुणग्राहिता आदि गुणो को उतार सकेंगे। जैनदर्शन मे इसी को अहिसा की सावना कहा गया है। इसीका नाम है व्यवहार मे मित्रता !

विचार और मित्रता

विचार के आधार पर जो भेद खडे हो रहे है, उन्हे दूर करने का उपाय है एकाङ्गी दृष्टिकोण का परित्याग। दृष्टिकोण ज्यो-ज्यो व्यापक होता जायगा मनुष्य दुराग्रहो को छोडता जायगा। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। किसी एक पहलू को पकड कर दूसरे पहलुओ का विरोध करना अज्ञान है। इससे व्यर्थ शत्रुता को प्रोत्साहन मिलता है। यह ठीक है कि मनुष्य का ज्ञान अधूरा है। प्रत्येक व्यक्ति सब वस्तुओ

को नही जान सकता । इतना ही नही, एक वस्तु के भी सब पहलुओ को जानना असम्भव है । ऐसी स्थिति मे एक ही उपाय है कि व्यक्ति अपने पहलू को प्रधानता देने पर भी दूसरे पहलुओ का विरोध न करे । मस्तिष्क को खुला रखे और उचित जचने पर प्रत्येक वात को स्वीकार करने के लिए तैयार रहे । उस समय यह न सोचे कि उसे कहने वाला कौन है, वह अपना है या पराया, शक्तिशाली है या निर्वल, प्रतिष्ठित है या साधारण ।

मित्रता और ऐतिहासिक दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण को जीवन मे उतारने के लिए अनेक विद्याओ का विकास हुआ । प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने इसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के रूप मे उपस्थित किया है । उनका कथन है कि साधारण व्यक्ति देश और काल की सीमाओ मे बधा हुआ है । वह अपनी धारणाए वर्तमान परिस्थिति को लक्ष्य मे रखकर बनाता है । इतिहास उसे सकुचित परिधि से ऊपर उठकर सोचने की शिक्षा देता है । सच्चा ऐतिहासिक अपनी धारणाए बनाते समय विश्वव्यापी घटनाओ की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है । उसके लिए वर्तमान जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही अतीत । इसी प्रकार मानव-स्वभाव की व्याख्या करते समय वह किसी एक जाति या प्रदेश को सामने नही रखता । साथ ही अपने पूर्वाग्रह और जमी हुई भावनाओ को भी कोई महत्त्व नही देता, अन्यथा वह सच्चा इतिहासकार नही बन सकता ।

सच्चा इतिहासकार अनेकता से एकता की ओर, भेद से अभेद की ओर तथा शत्रुता मे मित्रता की ओर बढने का पाठ सिखाता है । वह अपने और पराये के भेद को भूल जाता है, अन्यथा वह सच्चा इतिहास नही लिख सकता ।

मित्रता और दार्शनिक दृष्टिकोण

सकुचित पूर्वाग्रहो से ऊपर उठने का दूसरा मार्ग दर्शन है । इतिहास बाह्य तथ्यो या घटनाओ पर आधारित होता है, और दर्शन तर्क के

आधार पर विश्व की व्याख्या करता है। तर्क मे स्व और पर का भेद नही रखा जाता। जहा यह भेद है, वह तर्काभास है। उसे सच्चा तर्क नही कहा जा सकता। प्राचीनकाल मे दार्शनिको मे मतभेद चले आ रहे है। उनमे परस्पर शास्त्रार्थ हुए, खण्डन-मण्डन हुए और अनुचित उपाय भी काम मे लाये गए। किन्तु जब दार्शनिक युक्ति या तर्क को छोडकर अन्य उपायो को अपनाने लगता है तो दार्शनिक के पद से गिर जाता है। उस समय तत्त्व-निर्णय के स्थान पर विजय की भावना बलवती हो जाती है, और जो दार्शनिक तत्त्व-निर्णय को छोडकर विजिगीशु बन जाता है वह दार्शनिक नही रहता। सच्चा दार्शनिक युक्तिसगत होने पर प्रत्येक बात को अपनाने के लिए तैयार रहता है और युक्ति-विरुद्ध प्रतीत होने पर अपनी बात को भी तत्काल छोड देता है। इसके लिए स्व और पर का भेद नही करता। वह यह भी मानता है कि प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने पहलू को लक्ष्य मे रखकर उसे उपस्थित करता है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति किसी के लिए शत्रु है और किसी के लिए मित्र, किसी के लिए बुरा और किसी के लिए भला। सत्य पर पहुचने के लिए सब दृष्टि-कोणो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। जबतक उन सबको जानने की सामर्थ्य नही है तबतक यही एक मार्ग है कि उनका विरोध न किया जाय। इसीका अर्थ है दार्शनिक क्षेत्र मे मित्रता की ओर अग्रसर होना।

मित्रता और कला

काव्य हमारी भावनाओ का चित्रण करता है। किन्तु यदि वह सकुचित क्षेत्र पर आधारित है तो सर्वसाधारण के हृदय का स्पर्श नही कर पाता। उदाहरण के रूप मे, जो काव्य राष्ट्रो या जातियो के परस्पर विद्वेष को उभारते है वे सच्चे काव्य का प्रतिनिधित्व नही करते। काव्य हृदय की उन भावनाओ को प्रतिबिम्बित करता है, जहा समस्त मानव ही नही, प्राणी मात्र एक है, काव्य का पात्र कोई भी हो, वह समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करता है। वहा हमे प्रेम, करुणा

और अन्तर्द्वन्द्वो का चित्रण मिलता है, जो प्राणी मात्र मे एक से है। काव्य के समान सगीत, चित्र आदि कलाए भी हमे उस भूमिका पर ले जाती हैं, जहा मनुष्य और मनुष्य मे कोई भेद नही रहता।

मित्रता और धर्म

धर्म किसी अतीन्द्रिय तत्त्व को लक्ष्य मे रखकर मित्रता का पाठ सिखाता है। उसकी मान्यता है कि जबतक मनुष्य का धन, सम्पत्ति, सन्तान, यश, कीर्ति आदि बाह्य वस्तुओ की ओर आकर्षण बना हुआ है तबतक मित्रता स्थापित नही हो सकती। इसके लिए मनुष्य को ऐसी भूमिका पर पहुचना चाहिए जहा स्वार्थों का कोई सघर्ष नही। जब एक व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त कर लेता है और दूसरे को वह नही प्राप्त होती तो ईर्ष्या होने लगती है, किन्तु भौतिक वस्तुए सीमित है। वे सबको एक-सी मात्रा मे नही प्राप्त हो सकती। अत जबतक वे जीवन का लक्ष्य बनी रहेगी, ईर्ष्या-द्वेष आदि से छुटकारा नहीं हो सकता। धर्म मनुष्य का ध्यान उस लक्ष्य की ओर आकृष्ट करता है जहा पहुचने पर किसी प्रकार का वैषम्य नही रहता। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। इतना ही नही, धर्म का कथन है कि मनुष्य उस लक्ष्य को सामने रखकर ज्यो-ज्यो बढेगा उसकी समस्याए सुलझती जायगी। लक्ष्य मित्रतापूर्ण होने पर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि धर्म के नाम पर अनेक सघर्ष हुए है। उसकी आड लेकर मनुष्य ने अपने स्वार्थ एव अहकार का पोषण किया है। इस दृष्टि से धर्म को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। १ लौकिक धर्म और २ लोकोत्तर धर्म। जो धर्म जाति या राष्ट्र को आधार मानकर खडे हुए और जिनका लक्ष्य मुख्यतया लौकिक अभ्युदय है वे लौकिक धर्म है। वहा ईश्वर, देवता, क्रिया-काण्ड आदि समस्त धार्मिक-तत्त्व लौकिक आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए होते है। ऐसे धर्मों का अन्य सगठनो से सघर्ष होना स्वाभाविक है। वे विश्व को प्रेम या मित्रता का सन्देश नही दे सकते। यहूदियो की मान्यता है कि उनकी जाति का पापी भी अन्य जाति के धर्मात्मा मे

श्रेष्ठ है। पारसी धर्म मे भी अन्य जातिवालो के लिए धर्म का द्वार वन्द है। प्रारम्भ काल मे ब्राह्मण-धर्म की भी यही मनोवृत्ति रही है। उसीका परिणाम वर्ण-विद्वेप तथा लिंग-विद्वेप है। इन सभी धर्मो का लक्ष्य लौकिक उन्नति रहा है। कहने की आवश्यकता नही कि उन्होने मित्रता के स्थान पर शत्रुता का पोपण किया। वे धर्म न रहकर सैनिक सगठन वन गए। धर्म का दूसरा रूप इस्लाम तथा ईसाई-परम्पराओ मे मिलता है। प्रारम्भ मे इन्होने परस्पर प्रेम तथा विश्ववन्धुत्व का सन्देश दिया। किन्तु क्रमश जातीय स्वार्थो ने उनके असली रूप को ढक लिया। परिणामस्वरूप, दूसरो को अपना अनुयायी वनाने के लिए तलवार से काम लिया जाने लगा, अर्थात धर्म-प्रचार के लिए धर्म की हत्या की जाने लगी।

धर्म-सस्था का इतिहास यह वताता है कि सगठन जितना दृढ होता है उतना ही व्यक्ति धर्म से क्रूर होता जाता है। सगठन एक प्रकार का उन्माद है। उसका मूल तत्त्व आवेश है। इसके लिए दूसरे के प्रति घृणा उत्पन्न करना आवश्यक है, किन्तु धर्म आत्मा की शान्त एव शुद्ध अवस्था है। वह तभी प्राप्त होती है जव उन्माद समाप्त हो जाता है।

उपनिपदो ने इस मित्रता का सन्देश समस्त विश्व की एकता के रूप मे दिया। उन्होने वताया कि प्रतीत होनेवाले समस्त भेद मिथ्या है। इन सबका अधिष्ठान एक है, वही सत्य है, वही शाश्वत है। वौद्ध-धर्म ने वताया कि समस्त जगत क्षणिक तथा शून्य है। जैन-धर्म ने वाह्य और अभ्यान्तर समस्त जगत को सत्य मानते हुए भी प्राणिमात्र से मित्रता का सन्देश दिया। उसका कथन है कि समस्त आत्मा अपने शुद्ध रूप मे एक-से हैं। उस रूप को प्राप्त कर लेने पर किसी प्रकार की विषमता नही रहती। उसे प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। जैन-धर्म द्वारा प्रतिपादित अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के रूप मे पाच महाव्रत इसी मित्रता का विस्तार है। जैन-धर्म का सवसे वडा पर्व पर्यूषण है, जो मित्रता का ही पर्व है। उस दिन प्रत्येक जैन प्राणिमात्र से मित्रता की घोषणा करता है और उसे अपने जीवन मे उतारने की प्रतिज्ञा करता है। धार्मिक जगत मे मित्रता का सर्वोत्कृष्ट रूप वह है,

जहा व्यक्ति स्वय समस्त दुखो से छुटकारा पा जाने पर भी दूसरो के दुखो को अपना दुख मानने लगता है। भक्तिवादी परम्पराओ मे यह रूप परमात्मा को दिया गया है, जहा यह माना गया है कि परमात्मा अपने भक्तो के दुख से दुखी होने लगता है और उनके उद्धार के लिए स्वय प्रयत्न करने लगता है। बौद्धधर्म की महायान शाखा मे यह स्थान बुद्ध को दिया गया है। उसका कथन है कि बुद्ध के समस्त वन्धन तथा आवरण क्षीण हो जाते है और उनमे निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। फिर भी वह उसे प्राप्त नही करते। वे अन्य प्राणियो के दुख को अपना दुख मानने लगते हैं और उनके उद्धार के लिए इच्छापूर्वक कष्ट उठाने लगते है। जैन-धर्म मे भी तीर्थंकर निजी स्वार्थ न होने पर भी दूसरो के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते है।

मित्रता की भूमिकाएं

धर्म की दृष्टि से मित्रता की नीचे लिखी भूमिकाए है

१ स्वार्थ के विना किसी को कष्ट न देना। बहुत-से व्यक्ति अपने मनोरजन के लिए दूसरो को कष्ट देते रहते है। किसी प्राणी को तडपते हुए देखकर या अन्य व्यक्ति के सकट से मन-ही-मन प्रसन्न होते है। मानवता की जघन्यतम मर्यादा है निरपराध को विना स्वार्थ के कष्ट न देना और न ही दूसरे के कष्ट से प्रसन्न होता। जैन-दृष्टि से यह भूमिका सम्यकदृष्टि की है।

२ स्वार्थवश भी निरपराध को कष्ट न देना। विश्व मे आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य स्वार्थों के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण कर रहा है। लोकतन्त्र की मर्यादा है कि इस शोषण को वन्द किया जाय और जवतक दूसरा व्यक्ति हमारे ऊपर आक्रमण नही करता या हमारे स्वार्थों पर प्रहार नही करता तवतक उसपर आक्रमण न किया जाय। जैनदृष्टि से यह भूमिका श्रावक की है।

३ दूसरो की विवशता से लाभ न उठाना। उदाहरण के रूप मे, एक उद्योगपति जव यह देखता है कि मजदूर भूखा मर रहा है और उसे अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए किसी भी मूल्य पर

क्षम बेचना होगा तो उसका मूल्य गिरा देता है। यह एक प्रकार की हिंसा या शोषण है। जिस प्रकार भयभीत यात्री अपने प्राणो की रक्षा के लिए सब-कुछ डाकू को सौप देता है, इसी प्रकार मजदूर भी प्राण-रक्षा के लिए अपना क्षम किसी भी मूल्य पर बेचने को तैयार हो जाता है। विवशता और उससे लाभ उठाने की भावना दोनो उदाहरणो मे एक-सी है। यह जैन-श्रावक के अस्तेय व्रत मे आता है।

४ ऐसा कोई कार्य न किया जाय जिसमे दूसरे को अप्रत्यक्ष हानि पहुचे। उदाहरण के रूप मे, एक व्यक्ति अधिक सचय करता है तो दूसरे दरिद्र बनते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने शोषण क्षेत्र तथा सग्रह की मर्यादा करे और उसे उत्तरोत्तर सकुचित करता जाय। जैन-श्रावक का पाचवा और छठा व्रत इसी तथ्य को लिये हुए है।

५ किसी व्यक्ति को कष्ट मे देखकर उसकी सहायता करना। कष्ट-पीडित व्यक्ति की सहायता के लिए धन-सम्पत्ति तथा अधिकार को भी छोडने के लिए तैयार रहना।

: ७ :

उपसंहार

उपनिषदो मे एक उदाहरण आता है। मकडी अपनी भूख की समस्या का समाधान करने के लिए जाला बुनती है। समझती है, उसमे कीडे फस जायगे और वह अपना पेट भर लेगी, किन्तु परिणाम उल्टा निकलता है। वह स्वय उस जाल मे फस जाती है और प्राण गवा देती है। वर्तमान मानव की यही दशा है। समाधान स्वय समस्याए बनते जा रहे है। हम जिन आविष्कारो पर गर्व कर रहे है वे ही अमानवीय रूप धारण कर रहे हैं। जिन राष्ट्रो मे जीवन का स्तर उच्चतम है, आर्थिक स्थिति अत्यन्त दृढ है, कोई भूखा नही रहता, शिक्षा का व्यापक प्रसार है तथा जो नैतिक एव धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त विकसित कहे

जाते है, वे ही परस्पर विनाश के लिए कटिबद्ध है। किसी मे यह शक्ति नही है कि युद्ध और उसके भीषण परिणाम को रोक सके। ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास हो रहा है, उसकी रक्षा खतरे मे पडती जा रही है।

वर्तमान विश्व द्विविधा मे पडा है। जिन बातो को उसने गौरव समझा वे ही विनाश की ओर ले जा रही हैं। जिन्हे वरदान समझा, वे ही अभिशाप बन रही हैं। जिन्हे साधन से रूप मे अपनाया, उन्होने ही साध्य को कुचल डाला। जिन्हे सफलता समझकर वह इतराया उन्ही के कारण विफलता का अनुभव कर रहा है। स्वार्थो का सघर्ष दूर करने के लिए धर्म-सस्था का विकाम हुआ। उसने किसी उच्च लक्ष्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया और मनुष्य को भौतिक स्वार्थो से ऊपर उठने के लिए कहा। किन्तु धर्म स्वय एक स्वार्थ बन गया और उसका नाम लेकर मनुष्य मनुष्य से शत्रुता करने लगा। परस्पर सहयोग द्वारा जीवन की समस्याओ को सुलझाने के लिए समाज की रचना हुई। उसने परस्पर व्यवहार के लिए जिन परम्पराओ को जन्म दिया वे ही रुढि बनकर विकास मे बाधा डालने लगी। उन्होने मनुष्य और मनुष्य के बीच ऐसी भेद-रेखाए खडी कर दी जो विश्व का अभिशाप बनी हुई है। आतरिक तथा बाह्य शत्रुओ का दमन करने के लिए राज्य-सस्था का विकास हुआ। मनुष्य ने सोचा कि न्यायपूर्ण राज्य का आश्रय प्राप्त करके वह सुख-शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेगा, किन्तु उसका मारा जीवन ऐसे बन्धनो मे फम गया कि निकलना कठिन हो रहा है। उसकी बुद्धि, उसकी वाणी, उसके शरीर, उसके परिवार और धन-सम्पत्ति सब पर राज्य का नियत्रण होता जा रहा है। उसे कहा जा रहा है, राज्य के लिए जिओ और राज्य के लिए मरो। जीवन की मौलिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए अर्थ-व्यवस्था अस्तित्व मे आई। किन्तु उसने पूर्ति के स्थान पर अभाव की वृद्धि की। एक ओर भूखे पेट सोने-वाला श्रमजीवी-वर्ग है और दूसरी ओर देश की अमूल्य सम्पत्ति को विलासिता मे नष्ट करने वाला धनिक वर्ग। कोई भी स्वस्थ मानव के चरित्र को उपस्थित नही करता।

विज्ञान का विकास हुआ। यातायात के साधनो ने भौगोलिक दूरी

को मिटा दिया। रेडियो तथा टेलीविजन ने सास्कृतिक परिधियो को समाप्त कर दिया, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मानव मानव के समीप आ गया। अव भी हम एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देख रहे है। अणु-शक्ति के विकास से पहले जब हम युद्ध की बात सोचते थे तो दूसरे के विनाश और अपनी विजय का चित्र आता था। किन्तु अब वह बदल गया है। अब विनाश का सम्बन्ध देश-विशेप के साथ नही रहा। उसका सम्बन्ध समस्त मानव-जाति से हो गया है, जिसमे सोचनेवाला स्वय भी सम्मिलित है। उपग्रह का यात्री अपनी सफलता पर इतराता है, किन्तु जब वह दूसरे उपग्रह को उसी अन्तरिक्ष मे देखता है तो काप उठता है।

जिन राष्ट्रो ने आर्थिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र मे आश्चर्यजनक विकास किया, जो अपने को सभ्यता के उच्चतम शिखर पर मानते हैं वे ही यह अनुभव कर रहे है कि सभ्यता खतरे मे है और वे उसकी रक्षा करने मे असमर्थ हैं। मानव पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर भटक रहा है। एक ओर प्रकाश है, किन्तु उसे देखकर उसकी आखे चुंधिया जाती हैं। दूसरी ओर आखे खोलकर देखता है तो अपनी ही छाया विभीपिका के रूप मे दिखाई देती है। वह आखें बद करके विपरीत दिशा की ओर भागता है और सोचता है कि विभीपिका पीछे छूट गई होगी। किन्तु ज्यो ही आखें खोलता है, वह और भी भयकर रूप मे दिखाई देती है।

इस द्विविधा का मुख्य कारण है मानसिक परिधिया। पुरातन मानव छोटे-छोटे कुलो मे बटा हुआ था। प्रत्येक कुल का सास्कृतिक विकास उसकी परिधि तक सीमित था। उससे दो तत्त्व मिले रहते थे—(१) निजी कुल से प्रेम और (२) अन्य कुलो से द्वेप। उसी सास्कृतिक परिधि ने बढते हुए राष्ट्रीयता का रूप ले लिया। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि छोटी परिधिया समाप्त हो गईं। जन-नायक अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उन्हे इच्छानुसार उभारते रहते हैं। उनमे परस्पर टक्करें भी होती रहती हैं।

चुनाव के दिनो मे देखा गया है कि एक ही उम्मीदवार भिन्न-भिन्न व्यक्तियो से मत प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न परिधियो का नाम

लेकर अपना नाता जोडने का प्रयत्न करता है। काग्रेस का उम्मीदवार जब देखता है कि मतदाता जनसघ का सदस्य है तो उसे कहता है—आप भी ब्राह्मण हैं और मैं भी ब्राह्मण हू, जाति-भाई होने के नाते मै यह आशा करता हू कि आपका मत और कही नही जायगा। जब दूसरे व्यक्ति को देखता है कि वह न काग्रेसी है और न ब्राह्मण, तो उसके साथ पजाबी होने का नाता जोडता है। जब तीसरे को देखता है कि वह पजाबी भी नही है तो धर्म को आगे लाता है और जब वह नाता भी नही मिलता तो मुहल्ले को। कही एक ही सस्था या विश्वविद्यालय मे अध्ययन का नाता जोडा जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि परस्पर विरोधी आदर्श को लेकर चलनेवाली सस्थाओ के उम्मीदवार मत प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे के समर्थक बन जाते है। हिन्दू महासभा का उम्मीदवार मुस्लिम लीग के उम्मीदवार का समर्थन करता है और वह उसका। काग्रेस और कम्यूनिस्ट मे गठबन्धन हो जाता है। पता नही चलता कि मनुष्य की निष्ठा कहा है या ईमानदारी की क्या परिभाषा है।

भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता पर जीवनयापन करनेवाले अधिकाश व्यक्ति भ्रष्टाचार बन्द करने का नारा लगाते हैं। उस पर लम्बी-चौडी वक्तृताए देते हैं, किन्तु अपने को टटोल कर नही देखते। उन्हे ऐसा करने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट या झिझक नही होती। इतना ही नही, वे झूठे नारो और आन्दोलनो द्वारा अन्तरात्मा की आवाज को दबा देते हैं।

इस प्रकार की परिधिया और आत्म-वचनाए राष्ट्र की जड को खोखला कर डालती है, निष्ठा तथा ईमानदारी को नही पनपने देती और इसके बिना राष्ट्र शक्तिशाली नही बनता।

अनेक स्थानो पर इन परिधियो ने भीषण रूप धारण कर लिया है। भारत मे धर्म के नाम पर जो रक्तपात हुआ, उसे भुलाया नही जा सकता। अमरीका मे काले-गोरे के भेद ने भीषण रूप ले रखा है। रूस और अमरीका मे परस्पर आदर्शो का भेद है, फिर भी वे परस्पर शत्रु बने हुए हैं और उनकी तैयारी से सारा विश्व काप उठा है। इस

प्रकार हम देख रहे हैं कि भूगोल, धर्म, जाति, सिद्धान्त आदि के नाम पर अब भी एक मानव दूसरे मानव को पराया समझ रहा है।

इतना ही नही, जन-नायक अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नई-नई परिविया खडी कर रहे हैं और साधारण जनता उस मदिरा को पीकर मतवाली हो रही है।

धर्म ने मनुष्य के उद्धार का दावा किया। किन्तु इसके लिए सगठन विशेप का सदस्य होना आवश्यक बताया। वहा ईश्वर का जो रूप बताया गया उस रूप को नमस्कार करना, जिस क्रिया-काण्ड का विधान किया गया, उसका अक्षरश पालन और जिस वेप-भूपा तथा शिष्टाचार का प्रतिपादन है, तदनुसार चलना अनिवार्य मान लिया गया। सम्प्रदाय विशेप का नाम-पट्ट लगाये बिना उद्धार नही हो सकता। इन्ही सकुचित धारणाओ को लेकर भयकर युद्ध हुए। वर्तमान युग मे उनका स्थान राजनैतिक विचार-धाराओ ने ले लिया है। साम्यवाद, अधिनायकवाद, लोकतन्त्र आदि विचारधाराए एक-दूसरे से टकरा रही है। प्रत्येक का यह दावा है कि मानवता का उद्धार उसीके द्वारा हो सकेगा और इस उद्धार के लिए वह विचार-भेद रखनेवालो पर बम-वर्षा करती है, उनकी स्वतन्त्रता को छीनती है तो यह बुरा नही है। विचार-धाराओ का यह सघर्प विश्व के लिए बहुत बडा खतरा बन गया है। पता नही किस दिन वह ज्वालामुखी के समान भडक उठे और सबको निगल जाय।

हमने बहुत दिनो तक राष्ट्रीयता को वरदान माना। जन-साधारण को उसकी मदिरा पिलाकर सगठित किया। राष्ट्रीय अस्मिता के नाम पर गुण न होने पर भी एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अपने को ऊचा समझने के लिए प्रेरित किया, किन्तु जब इसकी प्रतिक्रिया दूसरे देशो मे हुई तो हृदय काप उठा। इसी मिथ्या गर्व को लेकर हिटलर तथा मुसोलिनी ने सैनिक सगठन किये। उन्होने अपने युवको मे यह भावना भर दी कि दूसरे देशो पर आधिपत्य करना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, क्योकि तुम दूसरो से उत्कृष्ट हो।

एक ओर स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया जा

रहा है, दूसरी ओर समाजवाद का नाम लेकर व्यक्ति को दवाया जा रहा है। एक ओर वैज्ञानिक प्रगति का समर्थन हो रहा है और दूसरी ओर उसे ही नैतिक एव आध्यात्मिक-पतन का कारण वताया जा रहा है। राजनीति मे जो स्थान राष्ट्रीयता का है, धर्म मे वही स्थान पथ या सम्प्रदायवाद का है। महावीर, बुद्ध तथा अन्य महापुरुषो ने सब से मित्रता करने का उपदेश किया। उपनिषदो ने समस्त जगत मे एक ही आत्मा के अस्तित्व पर वल दिया, ईसाई धर्म भी विश्व-वन्धुत्वके आदर्श को लेकर खडा हुआ, किन्तु उनके अनुयायियो मे परस्पर जो सघर्ष चल रहे है, वे स्वस्थ मानवता को नही पनपने देते।

पिछले युद्धो ने विश्व को शक्ति का पुजारी वना दिया। अपनी-अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए राज्यो मे प्रतिस्पर्द्धा चल रही है। जर्मनी, जापान, रूस आदि के उदाहरणो ने यह भी वताया कि शक्ति-सचय के लिए सगठन आवश्यक है और सगठन के लिए विचार-भेद एव व्यक्ति-स्वातत्र्य का दमन। दूसरी ओर, लोकतत्र विचार-भेद और व्यक्ति स्वातत्र्य को प्रोत्साहन देना चाहता है। सभी विचारक इस वात को स्वीकार करते है कि सुख-शान्ति की वृद्धि के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु उससे शक्ति का सचय नही हो पाता। सगठित डाकुओ के दल मे जितनी शक्ति होती है उतनी शात नागरिको मे नही होती। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। भारत मे शान्तिपूर्ण नागरिक-जीवन व्यतीत करनेवाले द्रविडो को अल्प-सख्यक घुमक्कड आर्यो ने खदेड दिया। इनमे भी जो एक स्थान पर बस गए, वे नये आनेवाले गिरोह द्वारा भगा दिये गए। इसी प्रकार, शक, हूण, मुसलमान और अग्रेजो के उत्तरोत्तर आक्रमण होते रहे, जहा अल्पसख्यक आक्रमणकारियो ने वहुसख्यक नागरिको पर अधिकार जमा लिया। इन तथ्यो को सामने रखकर जव विचार किया जाता है तो प्रत्येक राष्ट्र सन्देह मे पड जाता है कि शक्ति की उपासना की जाय या शान्ति की।

एशिया का प्राचीन-युग विचार-सहिष्णुता का युग रहा है। महावीर और वुद्ध के समय ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहा परिवार का एक सदस्य एक परम्परा को मानता है और दूसरा दूसरी परम्परा को।

वर्तमान युग मे भी भारतीय नागरिक साधारणतया शिव, विष्णु, राम, दुर्गा आदि देवी-देवताओ मे भेद नही करता। वह भेद केवल धर्मजीवी-वर्ग तक सीमित है। जहातक राष्ट्रीयता का प्रश्न है, भारत ने कभी इसको महत्त्व नही दिया। चीन और जापान मे भी यही बात रही है। किन्तु पाश्चात्य देशो ने जो आक्रमण किये, उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप एशिया भी राष्ट्रीयता का समर्थक बन गया। बौद्ध होने के नाते जो जापान विश्वबंधुत्व का समर्थक था वही अब राष्ट्रवादी हो गया। स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरो पर आक्रमण करना अपना अधिकार मानने लगा। साम्यवादी चीन ने भी वही रूप धारण कर लिया है।

स्वतन्त्र भारत के सामने भी यह विकट प्रश्न है। उसने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और-सुख समृद्धि को लक्ष्य मे रखकर अपनी योजनाए बनाई और सैनिक-शक्ति पर विशेष ध्यान नही दिया। इसका परिणाम यह निकला कि चीन ने उसे दुर्बल समझकर आक्रमण कर दिया। इस सकट का सामना करने के लिए भारत भी अपने साधनो को सैनिक तैयारी मे लगा रहा है। राष्ट्र की जो सम्पत्ति सार्वजनिक सुख एव सास्कृतिक विकास मे लगतो उसका उपयोग सहार की तैयारी मे करना पड रहा है।

भारत के सामने जो समस्या वास्तविक रूप लेकर आई, उसने समस्त राष्ट्रो के मानस को व्याकुल कर रखा है। प्रत्येक राष्ट्र आसन्न अथवा दूर, वास्तविक अथवा कल्पित भय से अभिभूत है। उसे दूर करने के लिए भीषण शस्त्रास्त्रो की तैयारी कर रहा है। उसकी मान्यता है कि स्वय दूसरो के लिए भय बनने पर अपना भय दूर हो जायगा, किन्तु परिणाम उल्टा निकल रहा है। भय और प्रति-भय मे होड चल पडी है और उसका वेग उत्तरोत्तर बढ रहा है।

लोकतन्त्र और व्यवहार

लोकतन्त्र की चर्चा करते समय हमारे सामने तीन प्रश्न उपस्थित होते है—(१) लोकतन्त्र क्या है ? (२) उसकी मर्यादा कहातक है और (३) वह कहातक व्यावहारिक है ? प्रथम दो प्रश्नो की चर्चा पिछले

पृष्ठो मे की जा चुकी है। वहा बताया गया है कि लोकतन्त्र वह जीवन-दृष्टि है, जो मनुष्य को सर्वोपरि मानती है। किसी अन्य तत्त्व के लिए मनुष्य को गौण नही बनाना चाहिए, उसका लक्ष्य है मनुष्य का अधिक-से-अधिक विकास, ऐसे बाह्य तथा अभ्यान्तर सभी बन्धनो से मुक्त करना। वह ऐसी व्यवस्था को लाना चाहता है, जहा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का गुलाम नही है, रूढियो का गुलाम नही है, जीवन-निर्वाह के लिए उसे अपना श्रम बेचना नही पडता, साथ ही वह अपना भी गुलाम नही है, अर्थात अभ्यान्तर मानव पर बाह्य मानव का आधिपत्य नही है। उसकी चेतना जागृत है, राष्ट्रीयता, पन्थ, जाति आदि के आवरणो से मुक्त है, इसी विकास को स्वतन्त्र शब्द से प्रकट किया गया है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन मे एक दृष्टि अपनानी होगी। वह दृष्टि समता की है, जहा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने को उत्कृष्ट समझता है, अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करता है और उन्हे उत्तरोत्तर बढाता चला जाता है, किन्तु जब दूसरे का प्रश्न आता है तो कर्तव्य की चर्चा करने लगता है। निजी गुण न होने पर भी जाति, वश, सम्प्रदाय, वेश-भूषा आदि के नाम पर विशेष सुविधाए प्राप्त करना चाहता है, वहा समता नही रहती। परस्पर वैषम्य और भेद खडे हो जाते है, सघर्ष छिड जाते है और सभी की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाती है। अत यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति उतना ही अधिकार प्राप्त करना चाहे, जितना वह दूसरे को दे सकता है। जितना अपने जीवन को महत्त्व देता है, उतना ही दूसरे के जीवन को भी दे। इसीका नाम अहिसा है, जितना अपने विचारो का सम्मान करता है, उतना ही दूसरो के विचारो का भी करे, इसीको दूसरे शब्दो मे अनेकान्तवाद या स्यादवाद कहा जाता है।

जहा एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता मे बाधा डालती है, वहा मर्यादा करना आवश्यक हो जाता है, इसी मर्यादा का नाम न्याय है। इसका भी मुख्य आधार समता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा ऊचा उठ सकता है, किन्तु जिस क्षेत्र मे एक का ऊचा उठना दूसरे पर

दवाव डालता है, वहा वह अन्याय हो जाता है। धार्मिक परिभाषा मे इसी को हिसा कहा जाता है। आध्यात्मिक जगत मे न्याय का यह सिद्धान्त कर्मवाद के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, और वह कार्य-कारण-भाव के शाश्वत नियम पर आधारित है, किसी सर्वनियन्ता या व्यक्ति-विशेष की इच्छा का वहा कोई स्थान नही है।

न्याय के इस सिद्धान्त को मानने पर भी लोकतन्त्र वैयक्तिक दुर्बलता की उपेक्षा नही करता। कारण कुछ भी हो, सभी व्यक्ति एक समान नही है, एक बुद्धिमान है दूसरा मूर्ख, एक धनवान है दूसरा दरिद्र, एक स्वस्थ है दूसरा रोगी, एक मिलनसार है दूसरा झगडालू। इस विविधता के होने पर भी जीवन को सुखी बनाने का मार्ग मित्रता है। परस्पर शत्रुता होने पर विना ही कारण, नई-नई समस्याए खडी होने लगती है और मित्रता होने पर विकट समस्याओ का भी अपने-आप समाधान हो जाता है। लोकतन्त्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक प्रतिदिन शुद्ध हृदय से घोपणा करे कि सभी मेरे मित्र है, मेरा किसी से वैर नही है, कम-से-कम वर्प मे एक वार तो यह घोपणा होनी ही चाहिए। साथ ही जो व्यक्ति अज्ञान या कष्ट से पीडित है, उनके प्रति सहानुभूति होनी चाहिए, मन मे उनके उद्धार की भावना रहनी चाहिए।

जहा तक लोकतन्त्र की मर्यादा का प्रश्न है, इसकी चर्चा भी की जा चुकी है। लोकतन्त्र सभी को एक स्तर पर नही ला सकता, सभी को एक सी सुविधाए प्रदान करना भी उसकी शक्ति के वाहर है। सुविधाए योग्यता एव श्रम द्वारा प्राप्त की जाती है और वे सभी व्यक्तियो मे एक-से नही होते। लोकतन्त्र की मर्यादा यही तक है कि वह विपमता के उन कारणो को दूर कर दे, जिनके लिए व्यक्ति स्वय उत्तरदायी नही है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को विकास का अवसर प्रदान करे। वलपूर्वक सभी को समान स्तर पर लाने का अर्थ होगा आलसी और परिश्रमी को समान सुविधाए प्रदान करना। इसे न्याय नही कहा जा सकता, यह समता की भावना के विरुद्ध है।

तीसरा प्रश्न व्यावहारिकता का है, यह पूछा जाता है, क्या लोक-

तन्त्र जीवन मे उतर सकता है ? आदर्श होने पर भी क्या उसे वास्तविक वनाया जा सकता है ? मनुष्य हजारो वर्षों से ऊचे-ऊचे सिद्धान्तो की चर्चा कर रहा है, फिर भी वह देवता नही वन सका। यदि लोकतन्त्र भी एक ऐसा ही सिद्धान्त है तो धर्म के समान वह भी ऐसे लोगो की चर्चा एव मनोरजन तक सीमित हो जायगा, जिनके सामने जीवन की वास्तविक समस्याए नही हैं, जिन्हे कठोर सघर्प मे नही उतरना पडता, ऐसी स्थिति मे इसकी चर्चा विशेष उपयोगी नही है। वह केवल अव्यवहारीय आदर्शों मे एक वृद्धि होगी और मस्तिष्क का वोझ वन कर रह जायगी।

इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमे उन तथ्यो की चर्चा करनी होगी जो लोकतन्त्र के विकास मे वाधक है। साथ ही यह विचार करना होगा कि उनके प्रभाव को कैसे घटाया जा सकता है।

जातीय सस्कार

लोकतन्त्र के वाधक तत्त्वो मे सर्वप्रथम स्थान जातीय सस्कारो का है। हजारो वर्षों से भिन्न-भिन्न जातिया भिन्न-भिन्न सस्कारो को लिये हुए है और वे विपमता एव परस्पर भेद का पोषण कर रहे है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का वालक उत्पन्न होते ही अपने को शूद्र के वालक से उत्कृष्ट मानता है। वाह्य जीवन मे दोनो परस्पर मिलते है और एक दूसरे के सपर्क मे आते हैं, फिर भी वे सस्कार समाप्त नही होते और तनिक-सा अवसर पाते ही उभरने लगते है। जन-नायक चुनाव मे विजय या अन्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हे जानवूझकर भी उभारते रहते हैं। इन सस्कारो को दूर करने के लिए प्रत्येक वालक मे यह भावना भरने की आवश्यकता है कि व्यक्ति गुणा के द्वारा ऊचा उठता है। जन्ममात्र से न कोई ऊचा है और न कोई नीचा। जैन-परपरा मे ऐसे व्यक्तियो के उदाहरण मिलते हैं, जो चडाल या शूद्र कुल मे उत्पन्न होने पर भी सर्वपूज्य वन गए।

दूसरा स्थान धार्मिक सस्कारो का है। जो लोग धर्म को जीवन मे उतारकर वास्तव मे आत्मविकास करना चाहते हैं, उनमे द्वेषवुद्धि

नही होती, किंतु बहुसंख्यक वर्ग ऐसा होता है, जो धर्म का नाम लेकर अपने अहकार का पोषण करना चाहता है। विधर्मियों से घृणा को वह अपने धर्म की सेवा समझता है। धर्मजीवी वर्ग इस द्वेष और मिथ्या अहकार को उभारता रहता है। इस सस्कार को दूर करने के लिए यह बताने की आवश्यकता है कि धर्म का सबध आत्मा से है। आत्म-शुद्धि के विना वेशभूषा तथा वाह्य क्रियाकाड व्यर्थ है। घृणा और अहकार अपने-आप मे धर्म के विरोधी तत्त्व है। हम जिस महापुरुष या परंपरा को अपने आदर्श के रूप मे मानते है वह कितनी ही ऊची हो, यदि उसके कारण हमारे मन मे राग-द्वेष-उत्पन्न होते है, तो वह उत्थान के स्थान पर पतन का कारण वन जायगी। धर्म प्रेम करना सिखाता है, द्वेप करना नही। वह समता का पोपक होता है, विषमता का नही।

धार्मिक सस्कारो का दूसरा रूप मिथ्या धारणाओ मे मिलता है। वहुत से व्यक्ति यह मानकर चलते है कि हमारा भविष्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ मे है। रोग-निवारण के लिए पथ्य या औषधोपचार के स्थान पर वे किसी देवता की मनौती को अधिक महत्त्व देते है। व्यापार, विद्याभ्यास, आदि के लिए भी पुरुषार्थ के स्थान पर देवता को प्रसन्न करने पर अधिक ध्यान देते है। वहुत से धर्मो मे अपनी वुद्धि से काम लेना नास्तिकता या अपराध समझा जाता है। उदाहरण के रूप मे, मुसलमान कुरान और पैगम्बर के सामने अपनी वुद्धि को हेय समझते है। कुरान के आदेशो मे किसी प्रकार की शका करना वहुत वडा अपराध मानते है। इसी प्रकार हिन्दुओ मे भी अनेक परपराए, पुस्तक या व्यक्ति-विशेष को वहुत अधिक महत्त्व देती है। लोकतन्त्र इस अत्याचार को नही सह सकता। वह प्रत्येक व्यक्ति को स्वतत्र होकर सोचने का अधिकार देता है। मानव ज्यो-ज्यो विकास करेगा अपने इस अधिकार को समझता जायगा। उसी अनुपात मे मानसिक वधन टूटते जायगे।

मूल्याङ्कन के सबध मे भी विभिन्न व्यक्ति और वर्ग भिन्न-भिन्न ...रो को लिये रहते है। क्षत्रिय अपने कुल-गौरव को सर्वाधिक

महत्व देता है और इसके लिए कष्ट उठाने को तैयार है। दूसरी ओर वैश्य का बालक नम्र होकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। बहुत-सी ऐसी जातिया हैं जो चोरी को अपनी धर्म-जीविका समझती हैं। उसमे उत्पन्न बालक साहसभरी चोरी करके प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। मूल्याङ्कन की इन विषम धारणाओ के कारण वास्तविक गुणो की प्रतिष्ठा नही होने पाती। और उसके बिना लोकतन्त्र जीवन मे नही उतर सकता। इसके लिए एक ही कसौटी है। जो मूल्याङ्कन मनुष्य और मनुष्य मे भेद करता है या उसे समाज विरोधी तत्वो की ओर खीचता है, वह हेय है। इसके विपरीत जो सत्य, अहिंसा, समता आदि आध्यात्मिक गुणो की ओर आकृष्ट करता है, वह उपादेय है।

बहुत-सी धरणाए तथा प्रेरणाए सकटकालीन स्थिति को सामने रखकर अस्तित्व मे आती हैं। यदि वह स्थिति लम्बे समय तक चलती रहती है तो वे ही जातीय चरित्र बन जाती हैं। एक क्षत्रिय कमर मे तलवार बाधकर चलना अपने गौरव की बात समझता है। उपयोगिता न होने पर भी वह मानता है कि बिना तलवार घर से बाहर निकलने पर उसकी प्रतिष्ठा घट जायगी। इस प्रकार की धारणा युद्धकालीन सकट को सामने रखकर बनी। जब राजपूत मुसलमानो के दरबार मे जाते थे तो उनका जीवन सकट से भरा रहता था। उस समय आत्मरक्षा के लिए अपने पास हथियार रखना आवश्यक था, किन्तु अब वह केवल एक प्रथा रह गया है। लोकतन्त्र ऐसी प्रथाओ को समाप्त कर देना चाहता है। वह भय तथा शत्रुता के वातावरण को दूर करके अभय तथा मित्रता का वातावरण तैयार करना चाहता है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे कारण हैं जो इस सिद्धात को जीवन मे नही उतरने देते। दरिद्र जनता आदर्श के रूप मे कुछ भी मानती रहे, उसकी प्रथम समस्या पेट भरने की होती है, इसके लिए विवश होकर स्वतन्त्र चेतना को बेचना पडता है। उदाहरण के रूप मे, एक मजदूर को अपनी आजीविका के लिए मालिक की सभी शर्तें स्वीकार करनी पडती हैं। सकटग्रस्त प्रजा शासक की अनुचित मागो को भी स्वीकार कर लेती है। लोकतन्त्र ऐसे स्थानो मे सर्वप्रथम उस विवशता को दूर

करना चाहता है। वह उस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता जहां एक व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से दूसरे व्यक्ति के अधीन होना पड़े। इसी प्रकार दुर्भिक्ष, महामारी आदि सकटों के समय व्यक्ति अपनी आत्मा को बेचने के लिए तैयार हो जाता है। लोकतन्त्र उस समय सैद्धांतिक चर्चा के स्थान पर सकटों को दूर करने का प्रयत्न करेगा।

प्राकृतिक कारणों का भी लोकतन्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के रूप मे, बहुत से ऐसे स्थान है, जहा व्यक्तियो का परस्पर अधिक मिलना नही हो सकता। वहा प्रत्येक बस्ती अपने-आप मे एक राज्य होती है। बहुत से स्थान ऐसे होते है जहा सदा सकटकालीन स्थिति बनी रहती है। कभी वन्य पशुओ का उपद्रव शुरू हो जाता है, कभी डाकुओ का और कभी प्राकृतिक। ऐसे स्थानो मे सभी सदस्य सैनिक सगठन के रूप में बधे रहते है। वहा लोकतन्त्र की अपेक्षा किसी एक व्यक्ति की आज्ञा पर चलना अधिक लाभदायक होता है। रोग, दुर्भिक्ष, बाढ आदि के समय भी किसी को अधिनायक चुनकर उसकी आज्ञा मानना अधिक श्रेयस्कर होता है। इसी प्रकार जहा शिक्षा का प्रचार नही है, व्यक्ति अपने हित-अहित को नही समझते, वहा लोकतन्त्र लाभ के स्थान पर हानिकारक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे एक ही मार्ग है कि सर्वप्रथम उस [illegible] को दूर किया जाय और धीरे-धीरे लोकतन्त्र की ओर अग्रसर हुआ जाय।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि उत्तेजनात्मक प्रचार व्यक्ति की स्वतन्त्र बुद्धि को कुठित कर देता है। प्राय. ऐसे प्रचार सगठनो की रक्षा के लिए किये जाते है। लोकतन्त्र को उससे जागरूक रहने की आवश्यकता है। एकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था मे व्यक्तियो की महत्वाकाक्षाए प्राय समाप्त हो जाती है। वहा सर्वाधिकार सपन्न अधिनायक के सामने किसी को सिर उठाने का साहस नही होता, किंतु लोकतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति आगे आना चाहता है, और इसके लिए जोड-तोड करता रहता है। नये-नये सगठन खडे करता है और उनका नाम लेकर सर्वसाधारण को उभारता है। प्राय देखा गया है कि जो सगठन रचनात्मक-कार्य करना चाहते है, वे सर्वसाधारण की भावना को नही उभार पाते।

इसके विपरीत जो प्रतिक्रिया को लेकर खडे होते है, वे घृणात्मक प्रचार द्वारा जनता के मानस को विषाक्त करते रहते है। नये सगठन का प्रत्येक सदस्य अपने को क्रान्तिकारी समझता है। उसके मस्तिष्क को मिथ्या अहकार का उन्माद घेरे रहता है। चरित्रहीन तथा अशिक्षित होने पर भी वह अपने को पुराने सगठन के सभी नेताओ से ऊचा समझता है। भारत मे जो दल काग्रेस की प्रतिक्रिया के रूप मे सगठित हुए उनका छोटे-से-छोटा सदस्य भी अपने को महात्मा गाधी से ऊचा समझता रहा। इस प्रकार का उन्माद लोकतन्त्र की बहुत बडी बाधा है। वहा ठडे मस्तिष्क से वस्तु को सामने रखकर सोचने की आवश्यकता है।